☐ निर्देशन
महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाण संवत् २५११
वि. सं. २०४२
ई. सन् १९८५

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन-समिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible] २५) रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

ĀVASHYAK SŪTRA

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Inspiring Soul
Up-pravartaka Shasansevi (Late) Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Siddhantacharya Sadhwi Suprabha 'Sudha' M. A.

Chief Editor
Pt. Shobha Chandra Bharill

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj)

Jinagam Granthmala Publication No. 24

☐ **Direction**
Sadhwi Umravakunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandra Bharill

☐ **Managing Editor**
Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Date of Publication**
Vir-nirvana Samvat 2511
Vikram Samvat 2042; August, 1985

☐ **Publisher**
Sri Agam Prakashan Samiti,
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.) [India]
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price** Rs. 25/-

समर्पण

जिनके अदम्य साहस एवं श्रुतभक्ति ने
जैनागमग्रन्थमाला को जन्म दिया,
जिन्होंने अपने जीवन-काल में अनेकानेक
ग्रन्थों का प्रणयन कर मानव-लोक का
असीम उपकार किया,
उच्च आचार और शुचि विचार जिनका
सहज योग बन गया था,
जिनका वैदुष्य विद्वद्वर्ग में था,
जो शत-शत सन्तों-सतियों द्वारा श्रमण-
संघ के भावी कर्णधार के रूप में प्रतिष्ठित
किए गए थे,
जो मनसा-वाचा-कर्मणा सम्यक् संकल्प,
सम्भाषण और समाधि के साकार प्रतीक थे,
उन सर्वतोभद्र महामनीषी
श्रमणसंघीय युवाचार्य
श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'
की दिवंगत पुनीतात्मा को ।

प्रकाशकीय

श्री जैनागमग्रन्थमाला के २४ वें ग्रन्थ के रूप में आवश्यकसूत्र पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। आवश्यकसूत्र धर्म-क्रिया से सम्बद्ध है और प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिए सदैव उपयोगी एवं आवश्यक है। इस सूत्र का सम्पादन एवं अनुवाद अध्यात्मयोगिनी परमविदुषी महासतीजी श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना' की पण्डिता शिष्या श्री सुप्रभाजी म० 'सुधा' सिद्धान्ताचार्य, साहित्यरत्न, एम० ए० ने परिश्रमपूर्वक किया है। अतएव हम महासतीजी के इस महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए आभारी हैं।

महासतीजी ने इस संस्करण को सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बनाने का पूर्ण रूप से प्रयास किया है। विशिष्ट शब्दों का अर्थ और भावार्थ देकर अनुवाद को अलंकृत किया है।

साहित्यवाचस्पति विद्वद्वर मुनि श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री ने प्रस्तुत सूत्र की विशद प्रस्तावना लिख कर इसे अधिक उपयोगी बना दिया है। प्रस्तावना में आपने विस्तार के साथ आवश्यकों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है और विभिन्न धर्मों सम्बन्धी आवश्यकक्रिया की तुलना भी प्रस्तुत की है।

पच्चीसवें ग्रन्थ के रूप में जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति प्रेस में दे दी गई है। इस प्रकार समिति का प्रकाशन कार्य अग्रसर हो रहा है। आगमप्रेमी सज्जन इन आगमों के प्रचार-प्रसार में सहयोग दें, यही निवेदन है।

रतनचंद मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष

जतनराज
प्रधानमन्त्री

चांदमल विनायकिया
मन्त्री

अपनी ओर से..

विराट् विश्व के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं। आचारांग सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—

"सव्वे पाणा''''सुहसाया दुक्खपडिकूला"[1] समस्त प्राणी चाहे वह कीड़ी है या कुंजर, दरिद्रतम मानव है अथवा स्वर्गाधिपति इन्द्र, सभी सुख चाहते हैं। दुःख कोई नहीं चाहता। 'सुखकामानि भूतानि'[2]—प्राणिमात्र की कामना है—सुख मिले। लेकिन प्रश्न यह है कि सुख मिले कैसे? वह कोई ऐसा फल तो है नहीं जो किसी वृक्ष पर लटक रहा हो, जिसे तोड़ लिया जाय अथवा कहीं से खरीद लिया जाय! यदि ऐसा होता तो जितने भी धनिक हैं, वे कब के उसे खरीद लेते। फिर बेचारे गरीबों को तो सुख नसीब ही न होता? पर ऐसा नहीं है। सुख अपने ही भीतर से प्रकट होता है। आत्मा में ही सुख-दुःख के बीज छिपे हुए हैं। उस सुख को प्राप्त करने के लिए जो क्रिया अनिवार्य है—उस क्रिया का चिन्तन, मनन करके उसका अमल करना चाहिए। जीवन की वह क्रिया, जिसके अभाव में हम आत्मिक सुखलाभ के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते, वही आवश्यक कहलाती है। जीवित रहने के लिये जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की पवित्रता के लिए जो क्रिया अथवा साधना जरूरी है, अनिवार्य है उसे ही आगम में 'आवश्यक' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। आवश्यक अर्थात् प्रतिक्रमण आदि अवश्य करणीय कर्त्तव्य।

प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है—पापों से निवृत्त होना। आत्मा की जो वृत्ति अशुभ हो चुकी है, उस वृत्ति को शुभ स्थिति में लाना प्रतिक्रमण है। अथवा प्रतिक्रमण का अर्थ है—अतीत के जीवन का प्रामाणिकता-पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण। मन की छोटी-बड़ी सभी विकृतियाँ, जो किसी न किसी रूप में पाप की श्रेणी में आती हैं, उनके प्रतीकार के लिए जैन परम्परा में प्रतिक्रमण एक महौषध है। तन की विकृति जैसे रोग है, वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मन की विकृतियाँ मन के रोग हैं। इनकी चिकित्सा भी आवश्यक है। तन का रोग अधिक से अधिक एक जन्म तक ही पीड़ा दे सकता है, किन्तु मन का रोग एक बार प्रारम्भ होने के बाद, यदि व्यक्ति असावधान रहा तो हजारों ही नहीं, लाखों जन्मों तक परेशान करता है। भारतीय पौराणिक साहित्य की हजारों जैन, बौद्ध एवं वैदिक कथाएँ इसकी साक्षी हैं। अतः प्रतिक्रमण के द्वारा मानसिक विकृतियों का तत्काल परिमार्जन कर लेना परमावश्यक है।

अनुयोगद्वार में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिये हैं—आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।[3]

---

१. आचारांगसूत्र, १।२।३।

२. उदान २।३

३. **आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं, धुवनिग्गहो विसोही य।**
अज्झयण-छक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो॥

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के लिए सायंकाल और प्रातःकाल कर्मों की निर्जरा करने लिए प्रतिक्रमण परम अनिवार्य है । आवश्यकसूत्र के छह अध्ययन हैं—(१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वंदना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) प्रत्याख्यान ।

१. सामायिक

सामायिक की साधना के विषय में महामहिम गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि—

प्र०—सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
उ०—सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥[1]

जीवन को स्पर्श करने वाला कितना मार्मिक प्रश्नोत्तर है । जिस आत्मा ने समता के अमृतविन्दु का पान किया है, वह कौन-सा आनन्द प्राप्त करता है ? प्रश्न जरा गंभीर लगता है, किन्तु उत्तर में उससे भी अधिक गंभीरता है ।

हे गौतम ! सामायिक द्वारा आत्मा सावद्ययोग की प्रवृत्ति से विरक्त होती है । आत्मा की वृत्ति चिरकाल से अशुभ की तरफ दौड़ रही है । सामायिक की साधना आत्मा को अशुभ वृत्ति से हटाकर शुभ में जोड़ती है और शुभ से शुद्धि की ओर ले जाती है ।

जिस प्रकार व्यक्ति पशुओं को जब कीले से बांध देता है, तब उसके भाग जाने का भय नहीं रहता, उसी प्रकार समभाव के साधक अशुभ वृत्ति को सामायिक से बांध देते हैं, फिर विकार की तरफ जाने का भय नहीं रहता है । सामायिक का अर्थ सिर्फ शारीरिक क्रिया को रोकना ही नहीं, अपितु अशुभ मानसिक क्रिया को भी रोकना है । सामायिक की मुख्य आधारभूमि मन ही है । जब तक मन में सामायिक नहीं आती, जब तक तन की सामायिक का विशेष महत्त्व नहीं है । राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का शरीर तो सामायिक में था लेकिन मन किन्हीं और ही विषम भावों से गुंथा हुआ था । तन समभाव में था किन्तु मन संहार में प्रवृत्त था । मन की अस्थिरता के योग ने उनको सातवें नरक तक के योग्य बन्धन में बांध लिया, परन्तु जैसे ही तन के साथ मन भी समभाव में प्रवृत्त बना कि सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करके कैवल्य को भी प्राप्त कर लिया ।

२. चतुर्विंशति-स्तव

आवश्यकसूत्र का दूसरा अध्ययन है चतुर्विंशतिस्तव। आलोचना के क्षेत्र में पहुंचने से पूर्व क्षेत्रशुद्धि होना आवश्यक है । साधक प्रथम समभाव में स्थिर बने फिर गुणाधिक महापुरुषों की स्तुति करे । महापुरुषों का गुण-कीर्तन प्रत्येक साधक के लिए प्रेरणा का स्रोत है । मानव-मन जबतक वर्त्तमान चौवीसी में, जो आध्यात्मिक जीवन के चौवीस सर्वोत्तम कलाकार हो गये हैं, उनका शरण नहीं लेगा तब तक आध्यात्मिक कला सीख नहीं सकेगा । इस विषय में गणधर गौतम श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं—

प्र०—चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
उ०—चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥[2]

---

१. उत्तराध्ययन, अ. २९ सूत्र ९

२. उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ सूत्र १० ।

प्रभो ! चतुर्विंशति-स्तव का जीवन में क्या स्थान है तथा जीवन में स्तवन-स्तुति का प्रकाश प्राप्त होता है, तब आत्मा कौन से आध्यात्मिक गुण को प्राप्त करती है ?

हे गौतम ! प्रार्थना का, स्तुति का प्रकाश आत्मा के दर्शन-ज्ञान को विशुद्ध बनाता है। मिथ्यात्व का अंधकार दर्शनगुण की प्रतिभा को नष्ट कर देता है, किन्तु वीतराग की स्तुति मिथ्यात्व से हटाकर साधक को सम्यक्त्व की ओर ले जाती है।

३. वन्दना

आवश्यकसूत्र का तीसरा अध्ययन वन्दना है। आलोचना क्षेत्र में प्रवेश करते समय गुरुभक्ति एवं नम्रता का होना आवश्यक है। ज्ञातासूत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर आया है। जीवन का पारखी सेठ सुदर्शन मुनि थावच्चापुत्र से प्रश्न करता है कि जैनधर्म का, जैनदर्शन का मूल क्या है—'किंमूलए धम्मे ?' उस महामहिम अनगार ने क्षमा आदि गुणों को धर्म का मूल न बताकर 'विनय' को ही धर्म का मूल कहा है—'सुदंसणा ! विणयमूले धम्मे।' विनय जीवनप्रासाद की नींव की ईंट रूप है। विनय एक वशीकरण मंत्र है। विनय से, नम्रता से देवता भी वश में हो जाते हैं तथा शत्रु, मित्र बन जाता है। इसलिए साधक तीर्थंकर की स्तुति के बाद गुरुदेव को वंदन करते हैं। इस विषय में शिष्य प्रश्न करता है—

प्र०—वन्दणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबन्धइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ॥[1]

भगवन् ! वंदन करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

गौतम ! वन्दना द्वारा आत्मा नीचगोत्ररूप बंधे हुए कर्म का क्षय करता है और उच्चगोत्र कर्म को बांधता है तथा ऐसा सौभाग्य प्राप्त करता है कि उसकी आज्ञा निष्फल नहीं जाती है अर्थात् उसकी वाणी में इतना निखार आ जाता है कि सभी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। साथ ही वन्दना से आत्मा को दाक्षिण्यभाव प्राप्त होता है।

४. प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण आवश्यकसूत्र का चतुर्थ अध्ययन है। व्रतों में लगे अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रतिदिन यथासमय यह चिन्तन करना कि आज आत्मा व्रत से अव्रत में कितना गया ? कषाय की ज्वाला कितनी बार प्रज्वलित हुई ? और हुई तो निमित्त क्या बना ? वह कषाय अनन्तानुबन्धी था अथवा अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी या संज्वलन ? क्रोध के आवेश में जो शब्द कहे वे उचित थे या अनुचित ? इस प्रकार का सूक्ष्म रूप से चिन्तन-मनन करके इसकी शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण में साधक अपनी भूलों का स्मरण करता है और उसके लिए पश्चात्ताप के आँसू बहाता है। पाप की कालिमा को नदी का सैकड़ों मन पानी नहीं धो सकता, किन्तु पश्चात्ताप के आँसू की दो बूंदें उसे एक मिनट में धो देती हैं। एक विचारक ने कहा है—जो भूल करता है वह मानव है, लेकिन उस भूल पर अहंकार करना राक्षस का काम है। भूल होना स्वाभाविक है, पर भूल पर गौरव अनुभव करना अर्थात् भूल को फूल मानकर बैठ जाना सबसे बड़ी भूल है और यही भूल आगे जाकर जीवन में शूल बन जाती है।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९ सूत्र ११

प्रतिक्रमण क्या है ? आत्मा के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में शिष्य प्रश्न करता है—

प्र०—पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ पिहियवय-छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥[1]

भगवन् ! प्रतिक्रमण करके आत्मा कौन-से विशिष्ट गुण को प्राप्त करता है ? शिष्य के मन की जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् फरमाते हैं—प्रतिक्रमण द्वारा साधक व्रत के छिद्रों को आच्छादित (बन्द) करता है । प्रमादवश व्रत में जो स्खलन हो जाता है, उसे प्रतिक्रमण के द्वारा दूर करता है । शुद्धव्रतधारी जीव आश्रवों को रोककर, शवलादि दोष रहित शुद्ध संयम वाला होकर आठ प्रवचनमाताओं में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधि-पूर्वक अपनी इन्द्रियों को सन्मार्गगामी बनाकर संयम-मार्ग में विचरण करता है ।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार होते हैं—(१) दैवसिक, (२) रात्रिक, (३) पाक्षिक, (४) चातुर्मासिक और (५) सांवत्सरिक ।

१. दैवसिक—दिन के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है ।
२. रात्रिक—रात्रि के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण अर्थात् रात्रि में लगे हुए दोषों की आलोचना करना ।
३. पाक्षिक—पन्द्रह दिन के अन्त में पापों की आलोचना करना ।
४. चातुर्मासिक—चार महीने के बाद कार्तिकी पूर्णिमा फाल्गुनी पूर्णिमा एवं आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार महीने के अन्तर्गत लगे दोषों का प्रतिक्रमण करना ।
५. सांवत्सरिक—आषाढ़ी पूर्णिमा से उनपचासवें या पचासवें दिन वर्ष भर में लगे हुए दोषों की आलोचना करना ।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग, ये पांच दोष माने गये है । साधक प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता हुआ यह देखता है कि वह कहीं सम्यक्त्व के प्रशस्त पथ को छोड़कर मिथ्यात्व के कंटीले पथ की तरफ तो नहीं बढ़ रहा है ? व्रत के वास्तविक स्वरूप को भूलकर अव्रत की ओर तो नहीं जा रहा है ? अप्रमत्तता के शान्त वातावरण को छोड़कर मन कहीं प्रमाद के तनावपूर्ण वातावरण में तो नहीं फंस रहा है ? अकषाय के सुरभित बाग को छोड़कर कषाय के दुर्गन्ध से युक्त बाड़े की ओर तो नहीं गया है ? योगों की प्रवृत्ति शुभ योग को छोड़ कर अशुभयोग में तो नहीं लगी ? यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में गया हूँ, तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अकषायता, अप्रमाद और शुभ योग में प्रवृत्त होना चाहिये ।

प्रतिक्रमण साधकजीवन की एक अपूर्व कला है तथा जैन साधना का प्राणतत्त्व है । ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश दोष न लग सके । उन दोषों से निवृति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये । प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन, निरीक्षण करते हुए इन दोषों से निवृत्त होकर हल्का बनता है ।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २९ सूत्र १२ ।

५. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग आवश्यकसूत्र का पांचवां अध्ययन है तथा ग्यारहवां तप है। इसका अर्थ है—देह के प्रति ममत्व त्यागना। जब तक देह के प्रति ममत्वभाव है तब तक साधक जीवन के मैदान में दृढ़तापूर्वक आगे नहीं बढ़ सकता। अतः जैन साधना-पद्धति में कायोत्सर्ग का अद्भुत, मौलिक एवं विलक्षण महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुयोगद्वार में कायोत्सर्ग को 'व्रणचिकित्सा' कहा है। सावधान रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण साधना में दोष लग जाते हैं। उन दोष रूपी जख्मों को ठीक करने के लिये कायोत्सर्ग एक मरहम है, जो अतिचार रूपी घावों को ठीक कर देता है। संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिये, अपने आपको विशुद्ध बनाने के लिए, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य से मुक्त करने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

कायोत्सर्ग के विषय में शिष्य प्रश्न करता है—

प्रश्न—काउसग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—काउसग्गेणं तीय-पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरिय-भारव्व भारवहे पसत्यज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।[1]

प्र०—भगवन् ! कायोत्सर्ग से आत्मा क्या फल प्राप्त करता है ?

उ०—कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मा भूतकाल और वर्तमान काल के अतिचारों से विशुद्ध बनता है। अतिचारों से शुद्ध होने के बाद साधक के मन में इतना आनन्द का अनुभव होता है, जितना कि एक मजदूर के मस्तक पर से वजन हट जाने पर उसे होना है।

६. प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान आवश्यकसूत्र का छठा अध्ययन है। भूतकाल के अतिचारों की आलोचना के बाद साधक प्रायश्चित्त रूप में कायोत्सर्ग करता है और अतीत के दोषों से मुक्त हो जाता है। परन्तु भविष्य के दोषों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। साधक के जीवन में प्रत्याख्यान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इस विराट् विश्व में इतने अधिक पदार्थ हैं जिनकी परिगणना करना भी असंभव है। चाहे कितनी भी लम्बी उम्र क्यों न हो फिर भी एक मनुष्य विश्व की सभी वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकता। लेकिन मानव की इच्छाएं तो आकाश की भांति अनन्त हैं। एक के बाद दूसरे को भोगने की इच्छा होती है, जिसके कारण मनुष्य के अन्तर्मानस में सदा अतृप्ति एवं अशान्ति बनी रहती है। उस अतृप्ति की आग को बुझाने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान से भविष्य में लगने वाले तत्संबंधी पाप रुक जाते हैं और साधक का जीवन संयम के सुनहरे प्रकाश में जगमगाने लगता है। प्रत्याख्यान से भविष्य में आने वाली अविरति की सभी क्रियाएं रुक जाती हैं और साधक नियमोपनियम का सम्यक् पालन करता है।

प्रत्याख्यान के विषय में कहा गया है—

प्रश्न—पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहंगए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे। सीईभूए विहरइ॥[2]

---

१. उत्तराध्ययन सू., अ. २९, सूत्र १२
२. उत्तराध्ययन अ. २९, सूत्र. १४

प्र०—भगवन् ! प्रत्याख्यान द्वारा आत्मा किस आत्म-गुण को प्रकट करता है ?

उ०—प्रत्याख्यान द्वारा आत्मा आश्रव के द्वारों को रोक देता है। जब तक आते हुए आश्रवों के द्वारों को नहीं रोकता है तब तक कर्मों का प्रवाह आत्मा में आता ही रहता है। जब तक किसी वस्तु का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता तब तक तत्संबंधी आसक्ति दूर नहीं होती और कर्म-रज आता ही रहता है। प्रत्याख्यान से इच्छाओं का निरोध हो जाता है। क्योंकि इच्छाओं को मर्यादित किये बिना प्रत्याख्यान संभवित नहीं। प्रत्याख्यान का एक बड़ा लाभ यह भी है कि मन की तृष्णा-जन्य स्थिति एवं चंचलता समाप्त हो जाती हैं और साधक को परम शान्ति का अनुभव होता है।

कुल मिलाकर निष्कर्ष यह है कि षडावश्यक साधक के लिये अवश्यकरणीय क्रिया है। साधक चाहे श्रमण हो अथवा श्रावक, इन क्रियाओं को करता ही है, लेकिन दोनों की अनुभूति में तीव्रता-मन्दता हो सकती है। श्रावक की अपेक्षा श्रमण इन क्रियाओं को अधिक तल्लीनता से कर सकता है, क्योंकि श्रमण आरंभ-समारंभ से सर्वथा विरत होते हैं। यह अवश्य करणीय क्रिया श्रमण साधक प्रतिदिन अनिवार्य रूप से करता है।

छह आवश्यकों का क्रम बड़े वैज्ञानिक ढंग से निरूपित किया गया है। पहला 'सामायिक' आवश्यक जीवन में समभाव की साधना सिखाता है। 'चतुर्विंशतिस्तव' द्वारा वह तीर्थंकर भगवन्तों जैसी वीतरागता अपने अन्दर विकसित करने की भावना करता है। 'वन्दना' के द्वारा वह स्वयं विनय गुण से विभूषित होता है, 'प्रतिक्रमण' द्वारा समस्त बाह्य एवं वैभाविक परिणतियों से विरत होकर अन्तर्मुख बनता है, 'कायोत्सर्ग' के द्वारा शरीर की ममता कम की जाती है तथा आत्मभाव में रमण किया जाता है और 'प्रत्याख्यान' में भविष्य के लिए विभिन्न प्रकार के त्याग ग्रहण किए जाते हैं। इस प्रकार साधक षडावश्यक से अपने अध्यात्म-जीवन को जगाता हुआ मुक्ति की राह पर कदम बढ़ता है।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणों के लिये यह अनिवार्य है कि वे नियमतः आवश्यक करें। यदि वे आवश्यक क्रिया नहीं करते हैं तो श्रमणधर्म से च्युत हो जाते हैं। यदि दोष लगा है तो भी और दोष नहीं लगा हो तो भी, प्रतिक्रमण अवश्य करना ही चाहिए।[१]

श्रमणसूत्र सम्बन्धी विचारण

मुमुक्षु प्राणियों की इच्छा पूर्ण करने वाला एक मात्र धर्म ही है और वह विशुद्ध आत्मा में रह सकता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से पहले अपनी जमीन में हल चलाता है, खाद डालता है, कंकर-पत्थरों को तथा फालतू घास-फूस आदि को हटाता है, उसके बाद ही वह खेत में बीज बोता है। ऊपर भूमि में बीज बोने से या कंकरीली, पथरीली भूमि में बीज बोने से फसल पैदा नहीं हो सकती। इसी प्रकार हृदय भी एक क्षेत्र है। इसमें धर्म रूपी बीज बोने से पहले इसकी शुद्धि करनी होती है। कहा भी है—'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।' धर्म शुद्ध हृदय में ही ठहरता है। आत्मा को विशुद्ध बनाकर धर्म में स्थित करने के लिए कुछ नियम आगमों में निर्दिष्ट हैं। आवश्यक इन्हीं नियमों में से एक मुख्य नियम है। "आवश्यक" जैन साधना का मूल प्राण है तथा अपनी आत्मा को निरखने-परखने का एक महान् उपाय है। नाम से स्पष्ट विदित होता है कि इसमें आवश्यकीय विषयों का संग्रह है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ द्वारा समाचरणीय नित्य

---

१. सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १२४४

कर्त्तव्य कर्म का स्वरूप आवश्यसूत्र में प्रतिपादित है। इस सूत्र में जीवनव्यवहार में जिन दोषों की उत्पत्ति होने की संभावना है उनका संक्षिप्त कथन, सभी आसानी से समझ सकें ऐसी खूबी से किया है। लेकिन श्रमणसूत्र के विषय में कुछ विचारणीय हैं। यथा—

शंका (१)—श्रमण नाम साधु का है, इसलिये श्रमणसूत्र साधु को ही पढ़ना उचित है या श्रावक को भी ?

समाधान (१)—श्रमण साधु का ही नाम है ऐसा संकुचित अर्थ शास्त्रसम्मत नहीं है। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र के २० वें शतक के ८ वें उद्देशक में कहा है—'तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णे समणसंघे, तंजहा— "समणा, समणीओ, सावगा, सावियाओ।' अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, इन चारों को श्रमणसंघ कहते है। यद्यपि व्यवहार में श्रमण साधु का ही नाम है, तथापि भगवान् ने तो चारों तीर्थों को ही श्रमणसंघ के रूप में कहा है। इस आप्तवाक्य को प्रत्येक मुमुक्षु को मानना चाहिए।

शंका (२)—श्रमणसूत्र में साधु के आचार का ही कथन है, इसलिए साधु को ही पढ़ना उचित है, श्रावक के लिये उसका क्या उपयोग है ?

समाधान (२)—श्रावक कृत अनेक धर्मक्रियाओं में श्रमणसूत्र के पाठ परम उपयोगी होते हैं। उदाहरण के लिए (१) जब श्रावक पौषधव्रत में या संवर में निद्राग्रस्त होते हैं, तब निद्रा में लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिये प्रथम मार्गशुद्धि (इरियावहियं का पाठ), कायोत्सर्ग (तस्स उत्तरी) का पाठ बोलने के बाद दो लोगस्स के पाठ का कायोत्सर्ग करके प्रकट में एक लोगस्स कहे, इसके बाद श्रमणसूत्र का प्रथम पाठ "इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए" का पाठ कहना चाहिए। निद्रा के दोषों से निवृत्त होने का अन्य कोई पाठ नहीं है।

(२) एकादशम (ग्यारहवीं) पडिमाधारी श्रावक भिक्षोपजीवी ही होते हैं तथा कई स्थानों पर दयाव्रत के पालन करने वाले (दशवें व्रत के धारक) श्रावक भी गोचरी करते हैं। उसमें लगे हुए दोषों की निवृत्ति करने के लिए दूसरा पाठ "पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए" का पाठ कहना पड़ता है।

(३) श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २१ वें अध्ययन में कहा है,—'निग्गंथे पावयणे सावए से विकोविए" अर्थात् पालित श्रावक निर्ग्रन्थप्रवचन (शास्त्र) में कोविद (पंडित) था, इस पाठ से श्रावक और २२वें अध्ययन में "सीलवंता बहुस्सुया" अर्थात् दीक्षा लेने के समय श्री राजमतीजी बहुत सूत्र पढ़ी हुई थीं, इससे श्राविका शास्त्र की पाठिका सिद्ध होती है। इस प्रकार उन्होंने सामायिक, पौषधव्रत में मुहपत्ति तथा वस्त्र, पूंजनी आदि का प्रतिलेखन नहीं किया हो तो उस दोष की निवृत्ति करने के लिए तीसरा पाठ "पडिक्कमामि चउकालं सज्झायस्स अकरणयाए" को कहना चाहिये।

(४) चौथे पाठ में "एक बोल से लगाकर तेतीस बोल तक कहे हैं। वे सब ही ज्ञेय (जानने योग्य) हैं। कुछ हेय (छोड़ने योग्य) और कुछ उपादेय (स्वीकारने योग्य) पदार्थों के दर्शक हैं। प्रत्येक कार्य बड़े उपयोगी हैं। अतः उनका ज्ञान भी श्रावकों के लिये आवश्यक है।

(५) पांचवां पाठ "निर्ग्रन्थ प्रवचन" (नमो चउव्वीसाए) का है, जिसमें जिनप्रवचन (शास्त्र) की एवं जैनमत की महिमा है तथा आठ बोलों में हेय-उपादेय का कथन है। वह भी श्रावकों के लिये परमोपयोगी है। इस प्रकार श्रमणसूत्र में एक भी विषय या पाठ ऐसा नहीं है जो कि श्रावक के लिए अनुपयोगी हो।

शंका (३)—श्रावक की तरह साधु को भी श्रावकसूत्र प्रतिक्रमण में कहना चाहिए, क्योंकि उसमें भी ज्ञेय, हेय, उपादेय आदि तीनों प्रकार के पदार्थों का कथन है।

समाधान (३)—श्रावक के व्रतों और अतिचारों को एक साथ कहना श्रावकसूत्र है। लेकिन यह विषय बड़ा विचारणीय है। (१) साधु के महाव्रतों में श्रावक के अणुव्रतों का समावेश हो जाता है, इसलिए साधु को श्रावकों के व्रत कहने की आवश्यकता नहीं है। (२) श्रावक को तो साधु होने का मनोरथ अवश्य करना चाहिए, अतः श्रमणसूत्र कहने की आवश्यकता है, परन्तु यदि कहें कि साधु भी श्रावक होने की भावना करे और श्रावक सूत्र को प्रतिक्रमण में कहे तो यह कथन सर्वथा अयोग्य ही होगा।

शंका (४)—श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे या करते हैं, इसका कोई प्रमाण है क्या ?

समाधान (४)—द्वादश वार्षिक महादुष्काल से धर्मस्खलित जैनों के पुनरुद्धारक श्रावकवरिष्ठ श्रीलोंकाशाह गुजरात देश के अहमदावाद शहर में हुए। उस देश में अर्थात् गुजरात, झालावाड़, काठियावाड़, कच्छ आदि देशों में छह कोटि एवं आठ कोटि वाले सभी श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे एवं करते हैं। सनातन जैन साधुमार्गी समाज के पुनरुद्धारक परम पूज्य श्री लवजीऋषिजी महाराज के तृतीय पाट पर विराजित हुए परम पूज्य श्री कहनाजीऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक श्रमणसूत्र बोलते हैं।

बाईस सम्प्रदाय के मूलाचार्य परम पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक एवं मेवाड़ देश-धर्मप्रवर्त्तक पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हैं।

उपर्युक्त शंका-समाधन से सिद्ध होता है कि श्रावक को श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करना चाहिए। श्रमणसूत्र के पाठों के विना श्रावक की क्रिया पूरी तरह शुद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि श्रावकों को अवश्य जानने योग्य विषय और आचरण करने योग्य विषय श्रावकसूत्र में हैं। प्राचीन काल के श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे, वर्तमान में भी कुछ श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हैं और जो श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण नहीं करते हैं, उन्हें अब करना चाहिए।

प्रस्तुत संस्करण

आवश्यकसूत्र का प्रस्तुत संस्करण आगम प्रकाशन समिति द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इस समिति की आयोजना हमारे स्वर्गीय गुरुदेव पूज्य युवाचार्य श्री 'मधुकर' मुनिजी महाराज द्वारा की गई थी। गुरुदेव का यह विचार था कि मूल आगमों का प्रकाशन ऐसी पद्धति से किया जाए जिससे सर्वसाधारण आगमप्रेमी जनों को भी उनका स्वाध्याय कर सकना सरल हो। यह कोई सामान्य संकल्प नहीं था। एक भगीरथ-अनुष्ठान था, मगर महान् संकल्प के धनी गुरुदेव ने इसे कार्य रूप में परिणत किया और आपके निर्देशन में अनेक आगमों का प्रकाशन हो भी गया। किन्तु दुःख का विषय है कि गुरुदेव बीच में ही स्वर्ग सिधार गए। तत्पश्चात् भी अनेक मुनिवरों और उदार सद्गृहस्थों के महत्त्वपूर्ण सहयोग से गुरुदेव द्वारा प्रारब्ध प्रकाशन-कार्य अग्रसर हो रहा है। अब यह प्रकाशन-कार्य गुरुदेव युवाचार्यश्री के प्रति एक प्रकार से श्रद्धाञ्जलि-स्वरूप ही समझना चाहिए।

आवश्यकसूत्र के सम्पादन में हमारी गुरुणीजी म. अध्यात्मयोगिनी, प्रशस्तवात्सल्यमूर्ति, सुमधुरभाषिणी, परमविदुषी पूज्य श्री उमरावकुंवरजी म. सा. ने मेरा पथ-प्रदर्शन किया है। तपोमूर्ति श्री उम्मेदकुंवरजी म. तथा अन्य साध्वी-मंडल का सहयोग प्राप्त हुआ है। उपाध्याय कविवर्य श्री अमरमुनिजी म. आदि द्वारा सम्पादित संस्करणों का भी इसमें यथास्थान उपयोग किया गया है। इन सभी के सहयोग के लिए मैं अतीव आभारी हूँ।

साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्रमुनिजी म. ने विस्तृत प्रस्तावना लिख कर इस संस्करण को विभूषित किया है। उनके प्रति आभारी होना स्वाभाविक है।

पूरी सावधानी बरतने के बावजूद अगर कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उदार पाठक हमें अवश्य सूचना दें, जिससे अगले संस्करण में उसका परिमार्जन किया जा सके।

—साध्वी सुप्रभा 'सुधा'

प्रस्तावना

आवश्यकसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

भारतीय साहित्य में 'आगम' शब्द शास्त्र का पर्यायवाची है। आवश्यकचूर्णिकार ने आगम शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—जिसके द्वारा पदार्थों का अवबोध होता है, वह आगम है[1]। अनुयोगद्वारचूर्णि में लिखा है—जो आप्तवचन है, वह आगम है[2]। अनुयोगद्वार मलधारीय टीका में आचार्य ने आगम शब्द पर चिन्तन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि जो गुरुपरम्परा से आता है, वह आगम है[3]। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—जिस शास्त्र के अनुशीलन से अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का उपाय अवगत हो, वह आगम है। अभिनवगुप्ताचार्य के अभिमतानुसार जिसके पठन से सर्वांगीण वोध प्राप्त हो, वह आगम है[4]। इसी प्रकार आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में शास्त्र की परिभाषा देते हुए लिखा है—जिसके द्वारा यथार्थ सत्य रूप ज्ञेय का, आत्मा का परिवोध हो और अनुशासन किया जा सके, वह शास्त्र है[5]। आगम और शास्त्र के ही अर्थ में सूत्र शब्द का भी प्रयोग होता है। संघदासगणी ने वृहत्कल्पभाष्य में सूत्र शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—जिसके अनुसरण से कर्मों का सरण / अपनयन होता है, वह सूत्र है[6]। विशेषावश्यकभाष्य में निरुक्त-विधि से अर्थ करते हुए लिखा है—जो अर्थ का सिंचन / क्षरण करता है, वह सूत्र है[7]। आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में लिखा है—जिससे अर्थ सूत्रित / गुम्फित किया जाता है, वह सूत्र है[8]। वृहत्कल्पटीका में लिखा है—सूत्र का अनुसरण करने से अष्ट प्रकार की कर्म-रज का अपनयन होता है, अतः वह सूत्र कहा जाता है[9]।

जैन साधना का प्राण : आवश्यक

जैन आगमसाहित्य में आवश्यकसूत्र का अपना विशिष्ट स्थान है। अनुयोगद्वारचूर्णि में आवश्यक की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो गुणशून्य आत्मा को प्रशस्त भावों से आवासित करता है, वह आवासक/आवश्यक है[10]। अनुयोगद्वार मलधारीय टीका में लिखा है, जो समस्त गुणों का निवासस्थान है, वह आवासक/

---

१. णज्जंति अत्था जेण सो आगमो। — आवश्यकचूर्णि १।३६
२. अत्तस्स वा वयणं आगमो। —अनुयोगद्वारचूर्णि पृष्ठ १६
३. गुरुपारम्पर्येणागच्छतीत्यागमः। —अनुयोगद्वार मलधारीय टीका, पृ. २०२
४. आसमन्तात् अर्थं गमयति इति आगमः।
५. सासज्जिति तेण तहिं वा नेयमायंतो सत्यं।
६. अनुसरइ त्ति सुत्तं। —वृहत्कल्प भाष्य, ३११
७. सिंचति खरइ जमत्थं तम्हा सुत्तं निरुत्तविहिणा। —वि. भा. १३६८
८. सूत्र्यन्ते अनेनेति सूत्रम्। —स्थानांगवृत्ति, पृष्ठ ४९
९. सूत्रमनुसरन् रजः—अष्टप्रकारं कर्म अपनयति ततः सरणात् सूत्रम्। —वृहत्कल्पटीका, पृष्ठ ९५
१०. सुण्णमप्पाणं तं पसत्थभावेहिं आवासेतीति आवासं। —अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. १४

आवश्यक सूत्र है[11]। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि जो प्रशस्त गुणों से आत्मा को सम्पन्न करता है, वह आवासक / आवश्यक जैन साधना का प्राण है। वह जीवनशुद्धि और दोषपरिमार्जन का जीवन्त भाष्य है। साधक चाहे साक्षर हो चाहे निरक्षर हो, चाहे सामान्य जिज्ञासु हो या प्रतापपूर्ण प्रतिभा का धनी कोई मूर्धन्य मनीषी; सभी साधकों के लिये आवश्यक का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। आवश्यकसूत्र के परिज्ञान से साधक अपनी आत्मा को निरखता है, परखता है। जैसे वैदिक परम्परा में सन्ध्याकर्म है, बौद्ध परम्परा में उपासना है, पारसियों में खोर देह अवेस्ता है, यहूदी और ईसाईयों में प्रार्थना है, इस्लाम धर्म में नमाज है, वैसे ही जैनधर्म में दोषों की विशुद्धि के लिये और गुणों की अभिवृद्धि के लिये आवश्यक है।

आवश्यक जैन साधना का मुख्य अंग है। वह आध्यात्मिक समता, नम्रता, प्रभृति सद्गुणों का आधार है। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न साधक का लक्ष्य बाह्य पदार्थ नहीं, आत्मशोधन है। जिस साधना और आराधना से आत्मा शाश्वत सुख का अनुभव करे, कर्म-मल को नष्ट कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से अध्यात्म के आलोक को प्राप्त करे, वह आवश्यक है। अपनी भूलों को निहार कर उन भूलों के परिष्कार के लिये कुछ न कुछ क्रिया करना आवश्यक है। आवश्यक का विधान श्रमण हो या श्रमणी हो, श्रावक हो या श्राविका हो—सभी के लिये है।[12] अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिये हैं—आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग। इन नामों में किंचित् अर्थभेद होने पर भी सभी नाम समान अर्थ को ही व्यक्त करते हैं।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणों के लिये यह नियम है कि वे अनिवार्य रूप से आवश्यक करें। यदि श्रमण और श्रमणियां आवश्यक नहीं करते हैं तो श्रमणधर्म से च्युत हो जाते हैं। यदि जीवन में दोष की कालिमा लगी है तो भी और नहीं लगी है तो भी आवश्यक अवश्य करना चाहिये। आवश्यकनिर्युक्ति में स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म प्ररूपित किया गया है।[13] श्रावकों के लिये भी आवश्यक की जानकारी आवश्यक मानी गई है। यही कारण है कि श्वेताम्बर परम्परा में बालकों के धार्मिक अध्ययन का प्रारम्भ आवश्यकसूत्र से ही कराया जाता है।

आवश्यकसूत्र के छह अंग हैं—

१. सामायिक—समभाव की साधना,
२. चतुर्विंशतिस्तव—चौबीस तीर्थंकर देवों की स्तुति।
३. वन्दन—सद्गुरुओं को नमस्कार, उनका गुणगान,
४. प्रतिक्रमण—दोषों की आलोचना,
५. कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्वका त्याग,
६. प्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग।

अनुयोगद्वार में इनके नाम इस प्रकार दिये गये हैं—१. सावद्य योगविरति (सामायिक), २. उत्कीर्तन

---

११. समग्रस्यापि गुणग्रामस्यावासकमित्यावासकम्। —अनुयोगद्वार मलधारीय टीका, पृष्ठ २८

१२. समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा।
अन्ते अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥ —आवश्यकवृत्ति, गाथा २, पृष्ठ ५३

१३. सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं॥ —आवश्यकनिर्युत्ति, गाथा १२४४

(चतुर्विंशतिस्तव), ३. गुणवत् प्रतिपत्ति (गुरु-उपासना अथवा वन्दन), ४. स्खलितनिन्दना (प्रतिक्रमण—पिछले पापों की आलोचना), ५. व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग—ध्यान-शरीर से ममत्व-त्याग) और ६. गुणधारण (प्रत्याख्यान—आगे के लिये त्याग, नियमग्रहण आदि)।

ज्ञानसार में आचार्य ने आवश्यकक्रिया का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—आवश्यकक्रिया पहले से प्राप्त भावविशुद्धि से आत्मा को गिरने नहीं देती। गुणों की वृद्धि के लिये और प्राप्त गुणों से स्खलित न होने के लिये आवश्यक क्रिया का आचरण बहुत उपयोगी है। आवश्यकक्रिया के आचरण से जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता है। उसके जीवन में सद्गुणों का सागर ठाठें मारने लगता है।

आवश्यक में जो साधना का क्रम रखा गया है, वह कार्य-कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। साधक के लिये सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता को अपनाये सद्गुणों के सरस सुमन खिलते नहीं और अवगुणों के कांटे झड़ते नहीं। जब अन्तर्हृदय में विषमभाव की ज्वालाएँ धधक रही हों तब वीतरागी महापुरुषों के गुणों का उत्कीर्त्तन किस प्रकार किया जा सकता है? समत्व को जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषों के गुणों का संकीर्त्तन करता है और उनके उदात्त गुणों को जीवन में उतारता है। इसीलिये सामायिक आवश्यक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक रखा गया है। जब गुणों को व्यक्ति हृदय में धारण करता है, तभी उसका सिर महापुरुषों के चरणों में झुकता है। भक्तिभावना से विभोर होकर वह उन्हें वन्दन करता है, इसीलिये तृतीय आवश्यक वन्दन है। वन्दन करने वाले साधक का हृदय सरल होता है, खुली पुस्तक की तरह उसके जीवन-पृष्ठों को प्रत्येक व्यक्ति पढ़ सकता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना करता है, अतः वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। भूलों को स्मरण कर उन भूलों से मुक्ति पाने के लिये तन एवं मन में स्थैर्य आवश्यक है। कायोत्सर्ग में तन और मन की एकाग्रता की जाती है और स्थिर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डाँवाडोल स्थिति में हो, तब प्रत्याख्यान सम्भव नहीं है। इसलिये प्रत्याख्यान आवश्यक का स्थान छठा रखा गया है। इस प्रकार यह षडावश्यक आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय है।

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के दो विभाग प्राप्त हैं—द्रव्य-आवश्यक और भाव-आवश्यक है।[१४] द्रव्य आवश्यक में विना चिन्तन, अन्यमनस्क भाव से पाठों का केवल उच्चारण किया जाता है। जो पाठ बोला जा रहा है—उस पाठ में मन न लगकर इधर-उधर भटकता रहता है। द्रव्य-आवश्यक में केवल बाह्य क्रिया चलती है, उपयोग के अभाव से उस क्रिया से आन्तरिक तेज प्रकट नहीं होता। वह प्राणरहित साधना है। भाव-आवश्यक में साधक उपयोग के साथ क्रिया करता है। उस क्रिया के साथ उसका मन, उसका वचन, उसका तन पूर्ण रूप से एकाग्र होता है। वह एकलय और एकतानता के साथ साधना करता है। जब द्रव्य-आवश्यक के साथ भाव-आवश्यक का सुमेल होता है तो द्रव्य-आवश्यक एक तेजस्वी आवश्यक बन जाता है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने भाव-आवश्यक को अत्यधिक महत्त्व दिया है। भाव-आवश्यक लोकोत्तर साधना है और उस साधना का फल मोक्ष है।

---

१४. जं णं इमे समणो वा समणी वा सावओ वा सविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अन्नत्थ कत्थई मणं अकरेमाणे उभओकालं आवस्सयं करेंति से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं।

सामायिक आवश्यक

षडावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है। वह जैन आचार का सार है। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनों के लिये आवश्यक है। जितने भी श्रावक हैं वे जब साधना का मार्ग स्वीकार करते हैं तो सर्वप्रथम सामायिकचरित्र को ग्रहण करते हैं। चारित्र के पांच प्रकार हैं। उनमें सामायिक चारित्र प्रथम है। सामायिक चारित्र चौवीस ही तीर्थंकरों के शासन-काल में रहा है, पर अन्य चार चारित्र अवस्थित नहीं हैं। श्रमणों के लिये सामायिक प्रथम चारित्र है, तो गृहस्थ साधकों के लिये सामायिक चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत है। जैन आचारदर्शन का भव्य प्रासाद सामायिक की सुदृढ नींव पर आधृत है। समत्ववृत्ति की साधना किसी व्यक्ति-विशेष या वर्गविशेष की धरोहर नहीं है। वह सभी साधकों के लिये है और जो समत्ववृत्ति की साधना करता है वह जैन है। आचार्य हरिभद्र ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि साधक चाहे श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी मत का हो, जो भी समभाव में स्थित होगा वह निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त करेगा।[१५] एक व्यक्ति प्रतिदिन एक लाख स्वर्ण मुद्राओं का उदारतापूर्वक दान करता है, दूसरा व्यक्ति समत्वयोग की साधना करता है; इन दोनों में महान् कौन है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए तत्त्वदर्शी मनीषियों ने कहा—जो समत्वयोग—सामायिक की साधना करता है, वह महान् है।[१६] करोड़ों वर्षों तक तपश्चरण की निरन्तर साधना करने वाला जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता, उनको समभावी साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर लेता है।[१७] कोई भी साधक बिना समभाव के मुक्त नहीं हुआ है और न होगा ही। अतीत काल में जो साधक मुक्त हुए हैं, वर्तमान में जो मुक्त हो रहे हैं तथा भविष्य में जिन्हें मुक्त होना है, उनके मुक्त होने का आधार सामायिक था/है/रहेगा।

सामायिक एक विशुद्ध साधना है। सामायिक में साधक की चित्तवृत्ति क्षीरसमुद्र की तरह एकदम शान्त रहती है, इसलिये वह नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता। आत्मस्वरूप में स्थित रहने के कारण जो कर्म शेष रहे हुए हैं, उनकी वह निर्जरा कर लेता है। इसीलिये आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घातिकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[१८]

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में सामायिक की परिभाषा करते हुए लिखा है—सम उपसर्गपूर्वक गति अर्थ वाली "इण्" धातु से 'समय' शब्द निष्पन्न होता है। सम्—एकीभाव, अय—गमन अर्थात् एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से पुनः मुड़कर आत्मा की ओर गमन करना समय है। समय का भाव सामायिक

---

१५. सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो॥ —हरिभद्र

१६. दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स॥

१७. तिव्वतवं तवमाणे जं न वि निवट्टइ जम्मकोडीहिं।
तं समभाविअचित्तो, खवेइ कम्मं खणद्धे ण॥

१८. सामायिक-विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम्॥ —हरिभद्र अष्टक-प्रकरण, ३०-१

है।[19] आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—राग-द्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम है। मध्यस्थभावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वह सामायिक है।[20] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी विशेषावश्यकभाष्य में यही परिभाषा स्वीकार की है[21]। आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और हारिभद्रीया वृत्ति मलयगिरिवृत्ति आदि में सामायिक के विविध दृष्टियों से विभिन्न अर्थ किये हैं। सभी जीवों पर मैत्री-भाव रखना साम है और साम का लाभ जिससे हो, वह सामायिक है।[22] पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करना ही सावद्ययोग-परित्याग कहलाता है। अहिंसा, समता प्रभृति सद्गुणों का आचरण निरवद्ययोग है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो, वह सामायिक है।[23] 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है और 'अयन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है, वह सामायिक है।

सामायिक की विभिन्न व्युत्पत्तियों पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन सभी में समता पर बल दिया गया है। राग-द्वेष के विविध प्रसंग समुपस्थित होने पर आत्म-स्वभाव में सम रहना, वस्तुतः सामायिक है। समता से तात्पर्य है—मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन और सुख-दुःख में निश्चल रहना, समभाव में उपस्थित होना। कर्मों के निमित्त से राग-द्वेष के विषमभाव समुत्पन्न होते हैं, उन विषम भावों से अपने-आपको हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना, समता है। समता को ही गीता में योग कहा है।[24]

मन, वचन और काय की दुष्ट वृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक मन, वचन और काय को वश में कर लेता है। विषय, कषाय और राग-द्वेष से अलग-थलग रहकर वह सदा ही समभाव में स्थित रहता है। विरोधी को देखकर उसके अन्तर्मानस में क्रोध की ज्वाला नहीं भड़कती और न हितैषी को देखकर वह राग से आह्लादित होता है। वह समता के गहन सागर में डुबकी लगाता है, जिससे विषमता की ज्वालाएँ उसकी साधना को नष्ट नहीं कर पातीं। उसे न निन्दा के मच्छर डँसते हैं और न ईर्ष्या के बिच्छू ही डंक मारते हैं। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल, चाहे सुख के सुमन खिल रहे हों, चाहे दुःख के नुकीले कांटे बींध रहे हों, पर वह सदा समभाव से रहता है। उसका चिन्तन सदा जागृत रहता है। वह सोचता है कि संयोग और वियोग—ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय का फल हैं। परकीय पदार्थों के संयोग और वियोग से आत्मा का न हित हो सकता है और न अहित ही। इसलिए वह सतत समभाव में रहता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—जो साधक त्रस और स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसकी सामायिक शुद्ध

---

१९. 'सम्' एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्। —सर्वार्थसिद्धि, ७, २१

२०. समो—रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः, इण गतौ अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः—समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः समाय एव सामायिकम्। —आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, ८५४

२१. रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयणं अयो त्ति गमणं ति।
समगमणं ति समाओ स एव सामाइयं नाम॥ —विशेषावश्यक भाष्य, ३४७७

२२. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३४८१

२३. अहवा समस्स आओ गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो। —वि. भाष्य, गा. ३४८०

२४. समत्वं योगमुच्यते। —भगवद्गीता, २-४८

होती है।[25] जिसकी आत्मा संयम में, तप में, नियम में संलग्न रहती है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है।[26]

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—जैसे चन्दन काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धित बना देता है, वैसे ही विरोधी के प्रति भी जो समभाव की सुगन्ध फैलाता है, उसी की सामायिक शुद्ध है।[27]

समता के द्वारा साधक आत्मशक्तियों को केन्द्रित करके अपनी महान् ऊर्जा को प्रकट करता है। मानव अनेक कामनाओं के भंवरजाल में उलझा रहता है, जिससे उसका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है। द्वन्द्व और तनाव का वातावरण बना रहता है। बर्बरता, पशुता, संकीर्णता व राग-द्वेष के विकार-जन्तु पनपते रहते हैं। जब मानव समता से विचलित हुआ तब प्रकृति में विकृति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता, युग में हिंसा के तत्त्व उभरे हैं। उन सभी को रोकने के लिये सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिये सामायिक की आवश्यकता है। सामायिक समता का लहराता हुआ निर्मल सागर है। जो साधक उसमें अवगाहन कर लेता है, वह राग-द्वेष के कर्दम से मुक्त हो जाता है।

सामायिक की साधना बहुत ही उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएं हैं, वे सभी साधनाएं इसमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थपिंड कहा है।[28] उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का साररूप बताया है।[29] रंग-बिरंगे खिले हुए पुष्पों का सार गंध है, यदि पुष्प में गंध नहीं है, केवल रूप ही है तो वह केवल दर्शकों के नेत्रों को तृप्त कर सकता है, किन्तु दिल और दिमाग को ताजगी प्रदान नहीं कर सकता। दूध का सार घृत है। जिस दूध में घृत नहीं है, वह केवल नाममात्र का ही दूध है। घृत से ही दूध में पौष्टिकता रहती है। वह शरीर को शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार तिल का सार तेल है। यदि तिलों में से तेल निकल जाय, इक्षु खण्ड में से रस निकल जाय, धान में से चावल निकल जाय तो वह निस्सार बन जाता है। वैसे ही साधना में से समभाव यानी सामायिक निकल जाय तो वह साधना भी निस्सार है। केवल नाममात्र की साधना है। समता के अभाव में उपासना उपहास है। साधक मायाजाल के चंगुल में फँस जाता है। दूसरों की उन्नति को निहार कर उसके अन्तर्मानस में ईर्ष्या-अग्नि सुलगने लगती है, वैर-विरोध के जहरीले कीटाणु कुलबुलाने लगते हैं। इसीलिये सामायिक की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

भगवती सूत्र में वर्णन है कि पार्श्वापत्य कालास्यवेसी अनगार के समक्ष तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि सामायिक क्या है? और सामायिक का अर्थ क्या है?

---

२५. (क) जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासियं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७९९

(ख) अनुयोगद्वार १२८ (ग) नियमसार १२६

२६. (क) जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासियं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७९८

(ख) अनुयोगद्वार १२७ (ग) नियमसार १२७

२७. हरिभद्र अष्टक-प्रकरण २९-१

२८. सामाइयं संखेवो चोद्दस पुव्वत्थपिंडोत्ति॥ —विशेषा. भाष्य, गा. २७९६

२९. तत्त्वार्थवृत्ति १-१

कालास्यवेसी अनगार ने स्पष्ट रूप से कहा, "आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।"

तात्पर्य यह है कि जब आत्मा पापमय व्यापारों का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होता है, तब सामायिक होती है। आत्मा का काषायिक विकारों से अलग होकर स्वस्वरूप में रमण करना ही सामायिक है और वही आत्म-परिणति है। सामायिक में साधक बाह्य दृष्टि का परित्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाता है, विषमभाव का परित्याग कर समभाव में अवस्थित रहता है, पर पदार्थों से ममत्व हटाकर निजभाव में स्थित होता है। जैसे अनन्त आकाश विश्व के चराचर प्राणियों के लिये आधारभूत है, वैसे ही सामायिक-साधना आध्यात्मिक साधना के लिये आधारभूत है।

सामायिक के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए विविध दृष्टियों से सामायिक को प्रतिपादित किया गया है। नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव आदि से उसका स्वरूप प्रतिपादित है। सामायिक करने वाला साधक साधना में इतना स्थिर होता है कि चाहे शुभ नाम हों, चाहे अशुभ नाम हों, उस नाम का उस साधक के अन्तर्मानस पर कोई असर नहीं होता। वह सोचता है कि आत्मा अनामी है, आत्मा का कोई नाम नहीं है, नाम प्रस्तुत शरीर का है, यह शरीर नामकर्म की रचना है। इसलिये मैं व्यर्थ ही क्यों संकल्प-विकल्प करूं। सामायिक का साधक चित्ताकर्षक वस्तु को निहार कर आह्लादित नहीं होता तो घिनौने रूप को देखकर घृणा भी नहीं करता। वह तो सोचता है कि आत्मा रूपातीत है। सुरूपता और कुरूपता तो पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है, जो कभी शुभ होता है तो कभी अशुभ होता है। मैं पुद्गल तत्त्व से पृथक् हूँ। इस प्रकार वह चिन्तन कर समभाव में रहता है। यह स्थापना सामायिक है। सामायिक व्रतधारी साधक पदार्थों की सुन्दरता को देखकर मुग्ध नहीं होता और असुन्दरता को देखकर खिन्न नहीं होता। इसी तरह बहुमूल्य वस्तु को देखकर प्रसन्न नहीं होता और अल्पमूल्य वाली वस्तु को देखकर खिन्न नहीं होता। वह चिन्तन करता है कि पदार्थों की सुन्दरता और असुन्दरता की कल्पना मानव की कल्पना मात्र है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर प्रतीत होती है तो दूसरे को वह सुन्दर प्रतीत नहीं होती। हीरे-पन्ने, माणक-मोती आदि जवाहरात में भी मानव ने मूल्य की कल्पना की है, अन्यथा तो वे अन्य पत्थरों की भांति पत्थर ही हैं। ऐसा विचार कर साधक सभी भौतिक पदार्थों में समभाव रखता है। यह द्रव्य-सामायिक है। ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप हो, पौष माह की भयंकर सनसनाती सर्दी हो, श्रावण, भाद्रपद की हजार-हजार धारा के रूप में वर्षा हो अथवा रिमझिम-रिमझिम बूंदें गिर रही हों, चाहे अनुकूल समय हो, चाहे प्रतिकूल समय हो, सामायिक व्रतधारी साधक समभाव में विचरण करता है। शीत, उष्ण आदि स्पर्श पुद्गल के हैं और ये सारे पुद्गल, पुद्गल को ही प्रभावित करते हैं। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ, किसी भी पर स्पर्श का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। मुझे इन वैभाविक स्थितियों से दूर रहकर आत्मभाव में स्थित रहना है। यह काल-सामायिक है।

सामायिकनिष्ठ साधक के लिये चाहे रमणीय स्थान हो, चाहे अरमणीय, चाहे सुन्दर सुगन्धित उपवन हो, चाहे बंजर भूमि हो, चाहे विराट नगर की उच्च अट्टालिका हो, या निर्जन वन की कंटीली भूमि हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। वह सर्वत्र समभाव में रहता है। उसका चिन्तन चलता है कि मेरा निवासस्थान न जंगल है, न नगर, मेरा तो निवासस्थान आत्मा ही है, फिर व्यर्थ ही क्षेत्र के व्यामोह में पड़कर क्यों कर्मबन्धन करूँ? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव में स्थित रहता है तो मुझे भी आत्म-भाव में स्थिर रहना है, यह क्षेत्र-सामायिक है।

भाव-सामायिकधारी का चिन्तन ऊर्ध्वमुखी होता है। वह सदा-सर्वदा आत्म-भाव में विचरण करता है। उसका चिन्तन चलता है—"मैं अजर और अमर हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ, जीवन-मरण, मान-अपमान, संयोग-

वियोग, लाभ-अलाभ—ये सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं। मेरा इनके साथ वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार विचार करके शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मतत्त्व को प्राप्त करना ही भाव-सामायिक है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में कहा है—परद्रव्यों से निवृत्त होकर जब साधक की ज्ञानचेतना आत्मस्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव-सामायिक होती है। राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ भावापन्न आत्मा सम कहलाता है। उस सम में गमन करना भाव-सामायिक है।

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने भाव-सामायिक पर विस्तार से चिन्तन किया है। उन्होंने गुणनिष्पन्न भाव-सामायिक को एक विराट नगर की उपमा दी है। जैसे एक विराट नगर जन, धन, धान्य आदि से समृद्ध होता है, विविध वनों और उपवनों से अलंकृत होता है, वैसे ही भाव-सामायिक करने वाले साधक का जीवन सद्गुणों से समलंकृत होता है। उसके जीवन में विविध सद्गुणों की जगमगाहट होती है, शान्ति का साम्राज्य होता है।

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने सामायिक आवश्यक को आद्यमंगल[30] माना है। जितने भी विश्व में द्रव्यमंगल है, वे सभी द्रव्यमंगल अमंगल के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं, पर सामायिक ऐसा भावमंगल है जो कभी भी अमंगल नहीं हो सकता। समभाव की साधना सभी मंगलों का मूल केन्द्र है। अनन्त काल से इस विराट विश्व में परिभ्रमण करने वाला आत्मा यदि एक बार भी भाव-सामायिक ग्रहण कर ले तो वह सात-आठ भव से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता। सामायिक ऐसा पारसमणि है, जिसके संस्पर्श से अनन्तकाल की मिथ्यात्व आदि की कालिमा से आत्मा मुक्त हो जाता है।

सामायिक के द्रव्य-सामायिक और भाव-सामायिक ये दो मुख्य भेद हैं। सामायिक ग्रहण करने के पूर्व जो विधि-विधान किये जाते हैं, जैसे सामायिक के लिये आसन बिछाना, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि धार्मिक उपकरण एकत्रित कर एक स्थान पर अवस्थित होना, यह द्रव्य-सामायिक है। द्रव्य-सामायिक में आसन, वस्त्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, माला आदि वस्तुएं स्वच्छ और सादगीपूर्ण होनी चाहिये; वे रंग-बिरंगे न होकर श्वेत होने चाहिये। श्वेत रंग शुक्ल और शुभ ध्यान का प्रतीक है। आधुनिक विज्ञान ने भी श्वेत रंग को शान्ति का प्रतीक माना है। सामायिक में न गन्दे और बीभत्स धर्मोपकरण रखने चाहिये और न चमचमाती हुई विलासितापूर्ण वस्तुएँ हों। भाव-सामायिक वह है जिसमें साधक आत्म-भाव में स्थिर रहता है। सामायिक में द्रव्य और भाव दोनों की आवश्यकता है। भावशून्य द्रव्य केवल मुद्रा लगी हुई मिट्टी है, वह स्वर्णमुद्रा की तरह बाजार में मूल्य प्राप्त नहीं कर सकती। केवल बालकों का मनोरंजन ही कर सकती है। द्रव्यशून्य भाव केवल स्वर्ण है, जिस पर मुद्रा उट्टंकित नहीं है। वह स्वर्ण के रूप में तो मूल्य प्राप्त कर सकता है किन्तु मुद्रा के रूप में नहीं। द्रव्ययुक्त भाव स्वर्ण-मुद्रा है। वह अपना मूल्य रखती है और अबाध गति से सर्वत्र चलती है। इसीलिये भावयुक्त द्रव्य-सामायिक का भी महत्त्व है।

सामायिक के पात्र-भेद से दो भेद होते हैं—१. गृहस्थ की सामायिक और २. श्रमण की सामायिक।[31] गृहस्थ की सामायिक परम्परानुसार एक मुहूर्त्त यानी ४८ मिनट की होती है, अधिक समय के लिये भी वह अपनी स्थिति के अनुसार सामायिक व्रत कर सकता है। श्रमण की सामायिक यावज्जीवन के लिये होती है।

---

३०. आदिमंगलं सामाइयज्झयणं ।.........सव्वमंगलनिहाणं निव्वाणं पाविहित्ति काऊण सामाइयज्झयणं मंगलं भवति। —आवश्यकचूर्णि

३१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७९६

आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद बताए हैं—१. सम्यक्त्वसामायिक २. श्रुतसामायिक और ३. चारित्रसामायिक।[३२] समभाव की साधना के लिये सम्यक्त्व और श्रुत ये दोनों आवश्यक हैं। बिना सम्यक्त्व के श्रुत निर्मल नहीं होता और न चारित्र ही निर्मल होता है। सर्वप्रथम दृढ निष्ठा होने से विश्वास की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व में अंधविश्वास नहीं होता। वहाँ भेदविज्ञान होता है। श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है। जब विश्वास और विचार शुद्ध होता है, तब चारित्र शुद्ध होता है।

सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है, इसलिये इसमें जाति-पाँति का प्रश्न नहीं उठता। हरिकेशी मुनि[३३] जाति से अन्त्यज थे, पर सामायिक की साधना से वे देवों द्वारा भी अर्चनीय बन गये। अर्जुन मालाकार,[३४] जो एक दिन क्रूर हत्यारा था, सामायिक साधना के प्रभाव से उसने मुक्ति को वरण कर लिया।

जैन साहित्य में सामायिक का महत्त्व प्रतिपादन करने हेतु पूनिया श्रावक की एक घटना प्राप्त होती है—सम्राट् श्रेणिक की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने बताया कि तुम मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न होओगे, क्योंकि तुमने इसी प्रकार के कर्मों का अनुबन्धन किया है। सम्राट् श्रेणिक ने नरक से बचने का उपाय पूछा। भगवान् ने चार उपाय बताये। उन उपायों में एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक को खरीदना था। जब श्रेणिक सामायिक खरीदने के लिये पहुंचा तो पूनिया श्रावक ने श्रेणिक से कहा, "एक सामायिक का मूल्य कितना है? यह आप भगवान् महावीर से पूछ लीजिये।" राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—राजन्! तुम्हारे पास इतना विराट् वैभव है पर यह सारा धन सामायिक की दलाली के लिये भी पर्याप्त नहीं है। सामायिक का मूल्य तो उससे भी कहीं अधिक है। सार यह है कि सामायिक एक अमूल्य साधना है। आध्यात्मिक साधना की तुलना भौतिक वैभव से नहीं की जा सकती। आध्यात्मिक निधि के सामने भौतिक सम्पदाएँ तुच्छ ही नहीं, नगण्य हैं।

तुलना : बौद्ध और वैदिक परम्परा से

सामायिक जैन साधना की विशुद्ध साधनापद्धति है। इस साधनापद्धति की तुलना आंशिक रूप से अन्य धर्मों की साधनापद्धति से की जा सकती है। बौद्धधर्म श्रमणसंस्कृति की ही एक धारा है। उस धारा में साधना के लिये अष्टांगिक मार्ग का निरूपण है।[३५] अष्टांगिक मार्ग में सभी के आगे सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बौद्ध साहित्य के मनीषियों का यह अभिमत है कि यहाँ जो सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है, वह सम के अर्थ में है, क्योंकि पाली भाषा में जो सम्मा शब्द है, उसके सम और सम्यक् दोनों रूप बनते हैं। यहाँ पर जो सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है, वह राग-द्वेष की वृत्तियों को न्यून करने के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। जब राग-द्वेष की मात्रा कम होती है, तभी साधक समत्वयोग की ओर अपने कदम बढ़ा सकता है। अष्टांगिक मार्ग में अन्तिम मार्ग का नाम सम्यक् समाधि है। समाधि में चित्तवृत्ति राग-द्वेष से

---

३२. सामाइयं च तिविहं, सम्मत्तं सुयं तहा चरित्तं च।
दुविहं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं चेव॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७९७

३३. उत्तराध्ययन, हरिकेशी अध्ययन, १२

३४. अन्तकृतदशांग, ६ वर्ग, तृतीय अध्ययन

३५. (क) दीघनिकाय-महासतिपट्ठान-सुत्त (ख) संयुत्तनिकाय ५, पृ. ८-१०

रहित हो जाती है। जब तक चित्तवृत्तियाँ राग-द्वेष से मुक्त नहीं बनतीं तब तक समाधि के संदर्शन नहीं होते। संयुत्तनिकाय[३६] में तथागत बुद्ध ने कहा—जिन व्यक्तियों ने धर्मों को सही रूप से जान लिया है, जो किसी मत, पक्ष या वाद में उलझे हुए नहीं हैं, वे सम्बुद्ध हैं, समदृष्टा हैं और विषम स्थितियों में भी उनका आचरण सम रहता है। संयुत्तनिकाय[३७] में अन्य स्थान पर बुद्ध ने स्पष्ट कहा—आर्यों का मार्ग सम है। आर्य विषम स्थिति में भी सम का आचरण करते हैं। मज्झिमनिकाय[३८] में राग-द्वेष, मोह के उपशमन को ही परम आर्य उपशमन माना है। सुत्तनिपात[३९] में कहा गया है—जिस प्रकार मैं हूँ, वैसे ही संसार के सभी प्राणी हैं। अतः सभी प्राणियों को अपने सदृश समझकर आचरण करना चाहिये। बौद्धदर्शन में माध्यस्थ वृत्ति पर जो बल दिया है, उसका मूल आधार भी समभाव ही है। इस प्रकार बौद्धधर्म में यत्र-तत्र समत्व के उल्लेख प्राप्त हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में भी समभाव को साधना का एक आवश्यक अंग माना है। यह सत्य है कि उन्होंने सामायिक का निरूपण नहीं किया, पर सामायिक का जो मूल सभमाव है, उसका उल्लेख जरूर किया है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी समत्वयोग की चर्चा यत्र-तत्र हुई है। श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। उसमें योग की चर्चा करते हुए समत्व को ही योग कहा है।[४०] ज्ञान, कर्म, भक्ति, ध्यान आदि का उद्देश्य समत्व है। बिना समत्व के ज्ञान, अज्ञान है। जिसमें समत्व भाव है वही वस्तुतः यथार्थ ज्ञानी है।[४१] बिना समता के कर्म अकर्म नहीं बनता, समत्व के अभाव में कर्म का बन्धकत्व बना रहेगा।[४२] समत्व के अभाव में भक्त भी सच्चा भक्त नहीं है। समत्व में वह अपूर्व शक्ति है जिससे अज्ञान ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है और वह ज्ञान योग के रूप में जाना जाता है। गीताकार की दृष्टि से स्वयं परमात्मा/ब्रह्म सम है।[४३] जो व्यक्ति समत्व में अवस्थित रहता है, वह परमात्मभाव में ही अवस्थित है।[४४] नवम अध्याय में श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को कहा—हे अर्जुन! मैं सभी प्राणियों में सम के रूप में स्थित हूँ।[४५] गीताकार की दृष्टि से समत्व का क्या अर्थ है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—समत्व का अर्थ तुल्यता है, आत्मवत् दृष्टि है। जिस प्रकार सुख मुझे प्रिय है, दुःख अप्रिय है, वैसे ही विश्व के सभी प्राणियों को सुख प्रिय / अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल/अप्रिय है। इस प्रकार जो विश्व के प्राणियों में अपने ही सदृश सुख और दुःख को अनुकूल और प्रतिकूल रूप में देखता है, वह किसी के प्रति भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता। वही समदर्शी है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्व है।[४६] समत्व योगी साधक

३६. संयुत्तनिकाय १।१।८
३७. संयुत्तनिकाय १।२।६
३८. मज्झिमनिकाय ३।४०।२
३९. सुत्तनिपात ३।३७।७
४०. श्रीमद्भगवद्गीता २।४८
४१. श्रीमद्भगवद्गीता ५।१८
४२. श्रीमद्भगवद्गीता ४।२२
४३. (क) श्रीमद्भगवद्गीता ५।१९ (ख) गीता (शांकर भाष्य) ५।१८
४४. श्रीमद्भगवद्गीता ५।१९
४५. श्रीमद्गवद्गीता ९।१९
४६. श्रीमद्भगवद्गीता, शांकर भाष्य ६।३२

चाहे अनुकूल स्थिति हो, चाहे प्रतिकूल स्थिति हो, चाहे सम्मान मिलता हो, चाहे तिरस्कार प्राप्त होता हो, चाहे सिद्धि के संदर्शन होते हों, चाहे असिद्धि प्राप्त हो, तो भी उसका अन्तर्मानस उन सभी स्थितियों में सम रहता है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा—जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, जो इन्द्रियों के विषय-सुख में आकुल-व्याकुल नहीं होता, वही मोक्ष/अमृतत्व का अधिकारी है।[४७] गीता के अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा—जो समत्व भाव में स्थित होता है, वही मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर सकता है।[४८] इस प्रकार गीता में समत्वयोग का स्वर यत्र-तत्र मुखरित हुआ है।

आज विश्व में समत्वयोग के अभाव में विषमता की काली घटाएँ मंडरा रही हैं। जिससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र परेशान हैं। समत्वयोग जीवन के विविध पक्षों में इस प्रकार समन्वय स्थापित करता है जिससे न केवल व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष समाप्त होता है, अपितु सामाजिक जीवन के संघर्ष भी नष्ट हो जाते हैं, यदि समाज और राष्ट्र के सभी सदस्यगण उसके लिये प्रयत्नशील हों। समत्वयोग से वैचारिक दुराग्रह समाप्त हो जाता है और स्नेह की सुर-सरिता प्रवाहित होने लगती है। जीवन के सभी संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। वैचारिक जगत् के संघर्ष का मूल कारण आग्रह-दुराग्रह है। दुराग्रह के विष से मुक्त होने पर मनुष्य सत्य को सहज रूप से स्वीकार कर लेता है। समत्वयोगी साधक न वैचारिक दृष्टि से संकुचित होता है और न उसमें भोगासक्ति ही होती है। इसलिये उसका आचार निर्मल होता है और विचार उदात्त होते हैं। वह 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समत्वयोग के द्वारा गीताकार ने समभाव की साधना पर बल दिया है।

सामायिक आवश्यक में न राग अपना राग आलापता है और न द्वेष अपनी जादुई बीन बजाता है। वीतराग और वितृष्ण बनने के लिये यह उपक्रम है। यह वह कीमिया है जो भेदविज्ञान की अंगुली पकड़कर समता की सुनहरी धरती पर साधक को स्थित करता है। यह साधना जीवन को सजाने और संवारने की साधना है।

चतुर्विंशतिस्तव

षडावश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। हमने पूर्व पंक्तियों में देखा कि सामायिक में सावद्य योग से निवृत्त रहने का विधान किया गया है। सावद्य योग से निवृत्त रहकर साधक किसी न किसी आलम्बन का आश्रय अवश्य ग्रहण करता है, जिससे वह समभाव में स्थिर रह सके। एतदर्थ ही सामायिक में साधक तीर्थंकर देवों की स्तुति करता है।

चतुर्विंशतिस्तव भक्ति-साहित्य की एक विशिष्ट रचना है। उसमें भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हो रही है। यदि साधक उस भागीरथी में अवगाहन करे तो आनन्द-विभोर हुए बिना नहीं रह सकता। तीर्थंकर त्याग और वैराग्य की दृष्टि से, संयमसाधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का उत्कीर्तन करने से साधक के अन्तर्हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। यदि किसी कारणवश श्रद्धा शिथिल हो जाये तो उसमें अभिनव स्फूर्ति का संचार होता है। उसके नेत्रों के सामने त्याग-वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिकृति आती है, जिससे उसका अहंकार बर्फ की तरह पिघल जाता है।

---

४७. गीता २।१५

४८. गीता १८।५४

स्मरण रखिये, संसार में जो शुभतर परमाणु हैं उनसे तीर्थंकर का शरीर निर्मित होता है, इसलिये रूप की दृष्टि से तीर्थंकर महान् हैं। संसार में जितने भी प्राणी हैं, उन प्राणियों में तीर्थंकर सबसे अधिक बली हैं। उनके बल के सामने बड़े-बड़े वीर भी टिक नहीं पाते। तीर्थंकर अवधिज्ञान के साथ जन्म लेते हैं। श्रमण-दीक्षा अंगीकार करते ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसके पश्चात् उनमें केवलज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, अतः ज्ञान की दृष्टि से तीर्थंकर महान् हैं। दर्शन की दृष्टि से तीर्थंकर क्षायिक सम्यक्त्व के धारक होते हैं। उनका चारित्र उत्तरोत्तर विकसित होता है। उनके परिणाम सदा वर्द्धमान रहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ ही दान में उनकी क्षमता कोई भी नहीं कर सकता। वे श्रमणधर्म में प्रविष्ट होने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़, आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते हैं। वे गुप्त ब्रह्मचारी होते हैं। साधना काल में देवांगनाएँ भी अपने अद्भुत रूप से उनको आकर्षित नहीं कर पातीं। तप के क्षेत्र में भी तीर्थंकर कीर्तिमान संस्थापित करते हैं। वे तप-काल में जल भी ग्रहण नहीं करते। भावना के क्षेत्र में भी तीर्थंकरों की भावना उत्तरोत्तर निर्मल और निर्मलतम होती जाती है।

इस प्रकार तीर्थंकरों का जीवन विविध विशेषताओं का पावन प्रतिष्ठान है। एक काल में एक स्थान पर अनेक अरिहन्त हो सकते हैं, पर तीर्थंकर एक ही होता है। प्रत्येक साधक प्रयत्न करने पर अरिहन्त बन सकता है, किन्तु तीर्थंकर बनने के लिये एक नहीं अनेक भवों की साधना अपेक्षित है। तीर्थंकरत्व उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन करने से हृदय पवित्र होता है, वासनाएँ शान्त होती हैं। जैसे तीव्र ज्वर के समय बर्फ की ठंडी पट्टी लगाने से ज्वर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जब जीवन में वासना का ज्वर बेचैनी पैदा करता हो, उस समय तीर्थंकरों का स्मरण बर्फ की पट्टी की तरह शान्ति प्रदान करता है। तीर्थंकरों की स्तुति से संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे एक नन्हीं सी चिनगारी रुई के ढेर को भस्म कर देती है वैसे ही तीर्थंकरों की स्तुति से कर्म नष्ट हो जाते हैं।

जब हम तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं तो प्रत्येक तीर्थंकर का एक उज्ज्वल आदर्श हमारे सामने रहता है। भगवान् ऋषभदेव का स्मरण आते ही आदियुग का चित्र मानस-पटल पर चमकने लगता है। वह सोचने लगता है कि भगवान् ने इस मानव-संस्कृति का निर्माण किया। राज्यव्यवस्था का संचालन किया। मनुष्य को कला, सभ्यता और धर्म का पाठ पढ़ाया। राजसी वैभव को छोड़कर वे श्रमण बने। एक वर्ष तक भिक्षा न मिलने पर भी चेहरे पर वही आह्लाद अठखेलियाँ करता रहा। भगवान् शान्तिनाथ का जीवन शान्ति का महान् प्रतीक है। भगवती मल्ली का जीवन नारी-जीवन का एक ज्वलन्त आदर्श है। भगवान् अरिष्टनेमि करुणा के साक्षात् अवतार हैं। पशु-पक्षियों की प्राण-रक्षा के लिये वे सर्वांगसुन्दरी राजीमती का भी परित्याग कर देते हैं। भगवान् पार्श्व का स्मरण आते ही उस युग की तप-परम्परा का एक रूप सामने आता है, जिसमें ज्ञान की ज्योति नहीं है, अन्तर्मानस में कषायों की ज्वालाएँ धधक रही हैं तो बाहर भी पंचाग्नि की ज्वालाएँ सुलग रही हैं। वे उन ज्वालाओं में से जलते हुए नाग को बचाते हैं। कमठ के द्वारा भयंकर यातना देने पर भी उनके मन में रोष पैदा नहीं हुआ और धरणेन्द्र पद्मावती के द्वारा स्तुति करने पर भी मन में प्रसन्नता नहीं हुई। यह है उनका वीतरागी रूप। भगवान् महावीर का जीवन महान् क्रान्तिकारी जीवन है। अनेक लोमहर्षक उपसर्गों से भी वे तनिक मात्र भी विचलित नहीं होते। आर्यों और अनार्यों के द्वारा, देवों और दानवों के द्वारा, पशु-पक्षियों के द्वारा दिये गये उपसर्गों में वे मेरु की तरह अविचल रहते हैं। जाति-पांति का खण्डन कर वे गुणों की महत्ता पर बल देते हैं। नारी-जाति को प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं।

इस प्रकार तीर्थंकरों की स्तुति मानव में अपने पौरुष को जागृत करने की प्रेरणा देती है। आत्मा ही परमात्मा है। कर्मबद्ध जीव है तो कर्ममुक्त शिव है। एक दिन तीर्थंकर की आत्मा भी हमारी तरह ही भोगवासना के दलदल में फँसी थी। पर ज्यों ही उसने अपने स्वरूप को समझा त्यों ही वे उसे त्याग कर नर से नारायण बन गए। आत्मा से परमात्मा बन गए। यदि मैं भी तीर्थंकर की तरह प्रयत्न करूं तो मैं उनके समान बन सकता हूँ। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कहा था कि तुम मेरी भक्ति करो मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूंगा।[४९] श्रमण भगवान् महावीर ने भी कहा—मैं भय से रक्षा करने वाला हूँ।[५०] तथागत बुद्ध ने कहा—जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।[५१] तथापि यह स्पष्ट है कि जैन और बौद्ध इन दोनों विचार-धाराओं के अनुसार व्यक्ति अपने ही पुरुषार्थ से उत्थान के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ होता है और अपने ही कुप्रयत्न से पतन के महागर्त में गिरता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न कर प्रभु के सहारे मुक्त होने की कल्पना को जैन धर्म में स्थान नहीं दिया है। उसने इस प्रकार की विवेकशून्य प्रार्थना को उचित नहीं माना है। उसका यह स्पष्ट अभिमत रहा है कि इस प्रकार की प्रार्थनाएँ मानव को दीन-हीन और परापेक्षी बनाती हैं। जो साधक स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, उस साधक को केवल तीर्थंकरों की स्तुति मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उसे मुक्ति-महल की ओर बढ़ा सकता है।

तीर्थंकर तो साधनामार्ग के आलोक-स्तम्भ हैं। आलोक-स्तम्भ जहाज का पथ प्रदर्शन करता है, पर चलने का कार्य तो जहाज का ही है। वैसे ही साधना की ओर प्रगति करना साधक का कार्य है। जैन दृष्टि से भक्ति का लक्ष्य अपने-आप का साक्षात्कार है। अपने में रही हुई शक्ति की अभिव्यक्ति करना है। साधक के अन्तर्मानस में जिस प्रकार की श्रद्धा / भावना बलवती होगी, उसी प्रकार का उसका जीवन बनेगा। इसीलिये गीताकार ने कहा—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'[५२] जिस घर में गरुड़ पक्षी का निवास हो, उस घर में साँप नहीं रह सकता। साँप गरुड़ की प्रतिच्छाया से भाग जाते हैं। जिनके हृदय में तीर्थंकरों की स्तुतिरूपी गरुड़ आसीन है, वहाँ पर पापरूपी साँप नहीं रह पाते। तीर्थंकरों का पावन स्मरण ही पाप को नष्ट कर देता है। एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! चतुर्विंशतिस्तव करने से किस सद्गुण की उपलब्धि होती है? भगवान् महावीर ने समाधान करते हुए कहा—चतुर्विंशतिस्तव करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। चतुर्विंशतिस्तव से अनेक लाभ हैं। उससे श्रद्धा परिमार्जित होती है, सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग और परीषहों को समभाव से सहन करने की शक्ति विकसित होती है और तीर्थंकर बनने की पवित्र प्रेरणा मन में उद्बुद्ध होती है। इसलिये षडावश्यकों में तीर्थंकरस्तुति या चतुर्विंशतिस्तव को स्थान दिया गया है।

वन्दन

साधनाक्षेत्र में तीर्थंकर के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का है। तीर्थंकर देव हैं। देव के पश्चात् गुरु को नमन किया जाता है। उनका स्तवन और अभिवादन किया जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति में ही वन्दन के अर्थ में चितिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्यायवची शब्द व्यवहृत हुए हैं। साधक मन, वचन और शरीर से सद्गुण के प्रति सर्वात्मना समर्पित होता है। जो सद्गुणी है, उन्हीं के चरणों में वह नत होता है। जीवन में विनय आवश्यक है।

---

४९. गीता १८।६६

५०. सूत्रकृतांग १।१६

५१. (क) मज्झिमनिकाय (ख) इतिवुत्तक ३।४३

५२. श्रीमद्भगवद्गीता १७।३

जैन आगमों में विनय को धर्म का मूल कहा है। आगमसाहित्य में विनय के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचना है, तथापि यह सत्य है कि जैनधर्म वैनयिक नहीं है। भगवान् महावीर के युग में एक ऐसा पन्थ था जिसके अनुयायी पशु-पक्षी आदि जो भी मार्ग में मिल जाता, उसे वे नमस्कार करते थे। भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों मे कहा—मानव ! तेरा मस्तिष्क ऐरे-गैरे के चरणों में झुकने के लिये नहीं है। नम्र होना अलग बात है, पर हर एक व्यक्ति को परमादरणीय समझकर नमस्कार करना अलग बात है। जैनधर्म में सद्गुणों की उपासना की गई है। उसका सिर सद्गुणियों के चरणों में नत होता है। सद्गुणों को नमन करने का अर्थ है, सद्गुणों को अपनाना। यदि साधक असंयमी पतित व्यक्ति को नमस्कार करता है, जिसके जीवन में दुराचार पनप रहा हो, वासनाएं उभर रहीं हों, राग-द्वेष की ज्वालाएं धधक रही हों, उस व्यक्ति को नमन करने का अर्थ है—उन दुर्गुणों को प्रोत्साहन देना। आचार्य भद्रबाहु[५३] ने आवश्यकनिर्युक्ति में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ऐसे गुणहीन व्यक्तियों को नमस्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि गुणों से रहित व्यक्ति अवन्दनीय होते हैं। अवन्दनीय व्यक्तियों को नमस्कार करने से कर्मो की निर्जरा नहीं होती और न कीर्ति ही बढ़ती है। असंयम और दुराचार का अनुमोदन करने से नये कर्म बंधते हैं। अतः उनको वन्दन व्यर्थ हैं। एक अवन्दनीय व्यक्ति जो जानता है कि मेरा जीवन दुर्गुणों का आगार है, यदि वह सद्गुणी व्यक्तियों से नमस्कार ग्रहण करता है तो वह अपने जीवन को दूषित करता है। असंयम की वृद्धि कर अपना ही पतन करता है।[५४]

जैनधर्म की दृष्टि से साधक में द्रव्य-चारित्र और भाव-चारित्र—ये दोनों आवश्यक हैं। यदि द्रव्य-चारित्र नहीं है, केवल भाव-चारित्र ही है, तो वह प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि सामान्य साधकों के लिये उसका पवित्र चरित्र ही पथ-प्रदर्शक होता है। केवल द्रव्य-चारित्र ही है, और भाव-चारित्र का अभाव है तो भी वह श्लाघनीय नहीं है। वह तो केवल दिखावा है। साधक को ऐसे ही गुरु की आवश्यकता है—जिसके द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र निर्मल हों, व्यवहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो, वही सद्गुरु वन्दनीय और अभिनन्दनीय होता है। ऐसे सद्गुरु से साधक पवित्र प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। वन्दन आवश्यक में ऐसे ही सद्गुरु को नमन करने का विधान है।

वन्दन करने से अहंकार नष्ट होता है, विनय की उपलब्धि होती है। सद्गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा व्यक्त होती है। तीर्थकरों की आज्ञा का पालन करने से शुद्ध धर्म की आराधना होती है। अतः साधक को सतत जागरूक रहकर वन्दन करना चाहिये। वन्दन करने में किंचिन्मात्र भी उपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। जब साधक के अन्तर्मानस में भक्ति का स्रोत प्रवाहित होता है, तब सहसा वह सद्गुरुओं के चरणों में झुक जाता है। जिस वन्दन में भक्ति की प्रधानता नहीं, केवल भय, प्रलोभन, प्रतिष्ठा आदि भावनाएं पनप रही हों, वह वन्दन केवल द्रव्य-वन्दन है, भाव-वन्दन नहीं। द्रव्य-वन्दन से कितनी ही बार कर्म-बन्धन भी हो जाता है। पवित्र और निर्मल भावना से किया गया वन्दन ही सही वन्दन है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—द्रव्य-वन्दन मिथ्यादृष्टि भी करता है किन्तु भाव-वन्दन सम्यग्दृष्टि ही करता है। मिथ्यादृष्टि की द्रव्य-वन्दन की क्रिया केवल यांत्रिक प्रक्रिया है, उससे किसी भी प्रकार का आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। वन्दन के लिये द्रव्य और भाव दोनों ही आवश्यक हैं।

---

५३. पासत्थाई वंदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
काय किलेसं एमेव कुणई तह कम्मबंधं च॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ११०८

५४. जे बंभचेरभट्ठा पाए उड्डंति बंभयारीणं।
ते होंति कुंट मुंटा बोही य सुदुल्लहा तेसिं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ११०९

धम्मपद[५५] में तथागत बुद्ध ने कहा—पुण्य की इच्छा से जो व्यक्ति वर्ष भर में यज्ञ और हवन करता है, उस यज्ञ और हवन का फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चतुर्थ भाग भी नहीं है। अतः सरल मानस वाले महात्माओं को नमन करना चाहिये। सदा वृद्धों की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुएं वृद्धि को प्राप्त होती हैं—आयु, सौन्दर्य, सुख और वल।[५६] इस प्रकार वौद्धधर्म में वन्दन को महत्त्व दिया है। वहाँ पर भी श्रमणजीवन की वरिष्ठता और कनिष्ठता के आधार पर वन्दन की परम्परा रही है।

वैदिक परम्परा में भी वन्दन सद्गुणों की वृद्धि के लिये आवश्यक माना है।[५७] श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का उल्लेख है।[५८] उस नवधा भक्ति में वन्दन भी भक्ति का एक प्रकार वताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता[५९] के अठारहवें अध्याय में "मां नमस्कुरु" कहकर श्रीकृष्ण ने वन्दन के लिये भक्तों को उत्प्रेरित किया है।

जैन मनीपियों ने वन्दन के सम्वन्ध में वहुत ही विस्तार से और गहराई से चिन्तन किया है। आचार्य भद्रवाहु[६०] ने वन्दन के ३२ दोप वताये हैं। उन दोपों से वचने वाला साधक ही सही वन्दन कर सकता है। संक्षेप में वे दोप इस प्रकार हैं—

१. अनादृत २. स्तव्ध ३. प्रविद्ध ४. परिपिण्डित ५. टोलगति ६. अंकुश ७. कच्छपरिगत ८. मत्स्योद्वृत्त ९. मनसाप्रद्विष्ट १०. वेदिकावद्ध ११. भय १२. भजमान १३. मैत्री १४. गौरव १५. कारण १६. स्तैन्य १७. प्रत्यनीक १८ रुष्ट १९. तर्जित २०. शठ २१. हीलित २२. विपरिकुंचित २३. दृष्टादृष्ट २४ शृंग २५. कर २६. मोचन २७. आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट २८. ऊन २९. उत्तरचूडा ३०. मूक ३१. ढड्डर ३२. चुडली।

सार यह है कि वन्दन करते समय अन्तर्मानस में किसी प्रकार की स्वार्थभावना / आकांक्षा / भय या किसी के प्रति अनादर की भावना नहीं होनी चाहिये। जिनको हम वन्दन करें उनको हम योग्य सम्मान प्रदान करें। मन, वचन और काया तीनों ही वन्दनीय के चरणों में नत हों।

प्रतिक्रमण

भारतवर्ष की सभी अध्यात्मवादी धर्म-परम्पराएं आत्मसाधना की प्रवल प्रेरणा प्रदान करती हैं। आत्मा में अनन्त काल से प्रमाद और असावधानी के कारण विकार और वासनाएं अपना प्रभुत्व जमाए हुए हैं। उन्हें हटाकर ईश्वरत्व को जगाना है। मानव में जो पशुत्व वृत्ति है, वह स्वयं उसकी नहीं अपितु वाहर से आई हुई है। साधक की आत्मा घनघोर घटाओं से घिरे हुए सूर्य के सदृश है। कर्मों की काली घटाओं के कारण आत्मा का परम तेज दिखाई नहीं दे रहा है। वह अपने-आप को दीन-हीन समझ रहा है। भूतकाल में जो अज्ञान और

---

५५. धम्मपद, १०८

५६. धम्मपद, १०९

५७. मनुस्मृति, २।१२१

५८. श्रीमद्भागवत पुराण ७।५।२३

५९. श्रीमद्भगवद्गीता १८।६५

६०. (क) आवश्यकनिर्युक्ति १२०७-१२११
(ख) प्रवचनसारोद्धार वन्दनाद्वार

प्रमाद के कारण भूलें हुई हैं, उन भूलों का परिष्कार प्रतिक्रमण के द्वारा ही सम्भव है। पापरूपी रोग को नष्ट करने में प्रतिक्रमण राम-बाण औषध के सदृश है।

प्रतिक्रमण जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर, अपनी स्वभाव-दशा से निकलकर विभाव-दशा में चले गये, अतः पुनः स्वभाव रूप सीमा में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु, किये गये पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—शुभ योगों में से अशुभ योगों में गये हुए अपने-आप को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[६१] आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यकवृत्ति में यही कहा है।[६२]

गृहीत नियमों और मर्यादा के अतिक्रमण से पुनः लौटना ही प्रतिक्रमण है। साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग—ये पांचों भयंकर दोष हैं। साधक प्रातः और संध्या के सुहावने समय में अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है, उस समय वह गहराई से चिन्तन करता है कि वह कहीं सम्यक्त्व के प्रशस्त पथ को छोड़कर मिथ्यात्व की कंटीली झाड़ियों में तो नहीं उलझा है? व्रत के स्वरूप को विस्मृत कर अव्रत को तो ग्रहण नहीं किया है? अप्रमत्तता के नन्दनवन में विहरण के स्थान पर प्रमाद की झुलसती मरुभूमि में तो विचरण नहीं किया है? अकषाय के सुगन्धित सरसब्ज बाग को छोड़कर, कषाय के धधकते हुए पथ पर तो नहीं चला है? मन, वचन, काया की प्रवृत्ति जो शुभ योग में लगनी चाहिये थी वह अशुभ योग में तो नहीं लगी? यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में गया हूँ, तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमाद और शुभ योग में आना चाहिये। इसी दृष्टि से प्रतिक्रमण किया जाता है।[६३]

आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प्रभृति ग्रन्थों में प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ विचार-चर्चाएं की गई हैं। उन्होंने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द[६४] भी दिए हैं, जो प्रतिक्रमण के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करते हैं। यद्यपि आठों का भाव एक ही है किन्तु ये शब्द प्रतिक्रमण के सम्पूर्ण अर्थ को समझने में सहायक हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. प्रतिक्रमण[६५]—इस शब्द में "प्रति" उपसर्ग है और "क्रमु" धातु है। प्रति का तात्पर्य है—प्रतिकूल और क्रमु का तात्पर्य है—पदनिक्षेप। जिन प्रवृत्तियों से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र

---

६१. प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अयमर्थः—शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।
—योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वोपज्ञवृत्ति

६२. स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

६३. (क) प्रति प्रतिवर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५०

६४. पडिकमणं पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही, पडिकमणं अट्ठहा होइ ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १२३३

६५. पडिक्कमणं पुनरावृत्तिः। —आवश्यकचूर्णि

रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम रूप पर स्थान में चला गया हो, उसका पुनः अपने-आप में लौट आना प्रतिक्रमण या पुनरावृत्ति है।

२. प्रतिचरणा[६६]—असंयम क्षेत्र से अलग-थलग रहकर अत्यन्त सावधान होकर विशुद्धता के साथ संयम का पालन करना प्रतिचरणा है, अर्थात् संयम-साधना में अग्रसर होना प्रतिचरणा है।

३. प्रतिहरणा—साधक को साधना के पथ पर मुस्तैदी से अपने कदम बढ़ाने समय उसके पथ में अनेक प्रकार की बाधाएं आती हैं। कभी असंयम का आकर्षण उसे साधना से विचलित करना चाहता है तो कभी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं। यदि साधक परिहरणा (प्रतिहरणा) न रखे तो वह पथभ्रष्ट हो सकता है। इसलिये वह प्रतिपल-प्रतिक्षण अशुभ योग, दुर्ध्यान और दुराचरणों का त्याग करता है। यही परिहरणा है।

४. वारणा—वारणा का अर्थ निषेध (रोकना) है। साधक विषय, कषायों से अपने आपको रोककर संयम-साधना करते हुए ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिये विषय-कषायों से निवृत्त होने के लिये प्रतिक्रमण अर्थ में वारणा शब्द का प्रयोग हुआ है।

५. निवृत्ति[६७]—जैन साधना में निवृत्ति का अत्यन्त महत्त्व रहा है। सतत सावधान रहने पर भी कभी प्रमाद के वश अशुभ योगों में उसकी प्रवृत्ति हो जाये तो उसे शीघ्र ही शुभ में आना चाहिये। अशुभ से निवृत्त होने के लिये ही यहाँ प्रतिक्रमण का पर्यायवाची शब्द निवृत्ति आया है।

६. निन्दा—साधक अन्तर्निरीक्षण करता रहता है। उसके जीवन में जो भी पापयुक्त प्रवृत्ति हुई हो, शुद्ध हृदय से उसे उन पापों की निन्दा करनी चाहिये। स्वनिन्दा जीवन को मांजने के लिए है। उससे पापों के प्रति मन में ग्लानि पैदा होती है और साधक यह दृढ़ निश्चय करता है कि जो पाप मैंने असावधानी से किये थे, वे अब भविष्य में नहीं करूंगा। इस प्रकार पापों की निन्दा करने के लिये प्रतिक्रमण के अर्थ में निन्दा शब्द का व्यवहार हुआ है।

७. गर्हा—निन्दा अपने-आपकी की जाती है, उसके लिए साक्षी की आवश्यकता नहीं होती और गर्हा गुरुजनों के समक्ष की जाती है। गुरुओं के समक्ष निःशल्य होकर अपने पापों को प्रकट कर देना बहुत ही कठिन कार्य है। जिस साधक में आत्मबल नहीं होता, वह गर्हा नहीं कर सकता। गर्हा में पापों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप होता है। गर्हा पापरूपी विष को उतारने वाला गारुड़ी मन्त्र, है जिसके प्रयोग से साधक पाप से मुक्त हो जाता है। इसीलिये गर्हा को प्रतिक्रमण का पर्यायवाची कहा है।

८. शुद्धि—शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। जैसे बर्तन पर लगे हुए दाग को खटाई से साफ किया जाता है, सोने पर लगे हुए मैल को तपा कर शुद्ध किया जाता है, ऊनी वस्त्र के मैल को पेट्रोल से साफ किया जाता है, वैसे ही हृदय के मैल को प्रतिक्रमण द्वारा शुद्ध किया जाता है। इसीलिये उसे शुद्धि कहा है।

आचार्य भद्रबाहु ने साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से अनुचिन्तन करे। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद बनते हैं।[६८]

६६. अत्यादरात् चरणा पडिचरणा अकार्यपरिहारः कार्यप्रवृत्तिश्च। —आवश्यकचूर्णि

६७. असुभभाव-नियत्तणं नियत्ती। —आवश्यकचूर्णि

६८. पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए अ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२६८

१. श्रमण और श्रावक के लिये क्रमशः महाव्रतों और अणुव्रतों का विधान है। उसमें दोष न लगे, इसके लिये सतत सावधानी आवश्यक है। यद्यपि श्रमण और श्रावक सतत सावधान रहता है, तथापि कभी-कभी असावधानीवश अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह में स्खलना हो गई हो तो श्रमण और श्रावक को उसकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये।

२. श्रमण और श्रावकों के लिये एक आचारसंहिता आगमसाहित्य में निरूपित है। श्रमण के लिये स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि अनेक विधान हैं तो श्रावक के लिये भी दैनंदिन साधना का विधान है। यदि उन विधानों की पालना में स्खलना हो जाये तो उस सम्बन्ध में प्रतिक्रमण करना चाहिये। कर्त्तव्य के प्रति जरा सी असावधानी भी ठीक नहीं है।

३. आत्मा आदि अमूर्त्त पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना बहुत कठिन है। वह तो आगम आदि प्रमाणों के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उन अमूर्त्त तत्त्वों के सम्बन्ध में मन में यह सोचना कि आत्मा है या नहीं ? यदि इस प्रकार मन में अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिये साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिये।

४. हिंसा आदि दुष्कृत्य, जिनका महर्षियों ने निषेध किया है, साधक उन दुष्कृत्यों का प्रतिपादन न करे। यदि असावधानीवश कभी प्रतिपादन कर दिया हो तो शुद्धि करे।

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताये गये हैं—द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। द्रव्यप्रतिक्रमण में साधक एक स्थान पर अवस्थित होकर विना उपयोग के यशप्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। यह प्रतिक्रमण यंत्र की तरह चलता है, उसमें चिन्तन का अभाव होता है। पापों के प्रति मन में ग्लानि नहीं होती। वह पुनः-पुनः उन स्खलनाओं को करता रहता है। वास्तविक दृष्टि से जैसी शुद्धि होनी चाहिये, वह उस प्रतिक्रमण से नहीं हो पाती। भावप्रतिक्रमण वह है, जिसमें साधक के अन्तर्मानस में पापों के प्रति तीव्र ग्लानि होती है। वह सोचता है, मैंने इस प्रकार स्खलनाएं क्यों कीं ? वह दृढ़ निश्चय के साथ उपयोगपूर्वक उन पापों की आलोचना करता है। भविष्य में वे दोष पुनः न लगें, इसके लिये दृढ़ संकल्प करता है। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण वास्तविक प्रतिक्रमण है। भावप्रतिक्रमण में साधक न स्वयं मिथ्यात्व आदि दुर्भावों में गमन करता है और न दूसरों को गमन करने के लिये उत्प्रेरित करता है और न दुर्भावों में गमन करने का अनुमोदन करता है।[६९]

साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीतकाल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के लिए है। पर आचार्य भद्रबाहु[७०] ने बताया कि प्रतिक्रमण केवल अतीतकाल में लगे दोषों की ही परिशुद्धि नहीं करता अपितु वह वर्तमान और भविष्य के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीतकाल में लगे हुए दोषों की शुद्धि तो आलोचना प्रतिक्रमण में की ही जाती है, वर्तमान में भी साधक संवर साधना में लगा रहने से पापों से निवृत्त

---

६९. मिच्छत्ताइं ण गच्छइ ण य गच्छावेइ णाणुजाणेइ।
जं मण-वय-काएहि तं भणियं भावपडिकम्मणं ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति (हा. भ. वृ.)

७०. (क) आवश्यकनिर्युक्ति
(ख) प्रतिक्रमणशब्दो हि अत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थः सामान्यतः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति, प्रत्युपन्नविषयमपि संवरद्वारेण अशुभयोग-निवृत्तिरेव अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति। —आचार्य हरिभद्र

हो जाता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिससे भावी दोषों से भी बच जाता है। भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान में शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्य में भी शुभ योग में प्रवृत्ति करूंगा, इस प्रकार वह संकल्प करता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार भी बताये हैं। १. दैवसिक, २. रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४. चातुर्मासिक और ५. सांवत्सरिक।

१. दैवसिक—दिन के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

२. रात्रिक—रात्रि में जो भी दोष लगें हों—उनकी रात्रि के अन्त में निवृत्ति करना।

३. पाक्षिक—पन्द्रह दिन के अन्त में अमावस्या और पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों का विचार कर प्रतिक्रमण करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

४. चातुर्मासिक—चार माह के पश्चात् कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा और आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार महीने में लगे हुए दोषों की आलोचना कर प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक है।

सांवत्सरिक—आषाढ़ी पूर्णिमा के उनपचास या पचासवें दिन वर्ष भर में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना।

यहाँ पर यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि जब साधक प्रतिदिन प्रातः-सायं नियमित प्रतिक्रमण करता है, फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है? समाधान है—प्रतिदिन मकान की सफाई की जाती है तथापि पर्व दिनों में विशेष सफाई की जाती है, वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण में अतिचारों की आलोचना की जाती है, पर पर्व दिनों में विशेष रूप से जागरूक रहकर जीवन का निरीक्षण, परीक्षण और पाप का प्रक्षालन किया जाता है।

स्थानांग[७१] में प्रतिक्रमण के छह प्रकार अन्य दृष्टियों से प्रतिपादित हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. उच्चारप्रतिक्रमण—विवेकपूर्वक पुरीषत्याग, मल परठ कर आने के समय मार्ग में गमनागमन सम्बन्धी जो दोष लगते हैं, उनका प्रतिक्रमण।

२. प्रस्रवणप्रतिक्रमण—विवेकपूर्वक मूत्र को परठने के पश्चात् ईर्या का प्रतिक्रमण।

३. इत्वरप्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना।

४. यावत्कथिकप्रतिक्रमण—महाव्रत आदि जो यावत्काल के लिये ग्रहण किये जाते हैं अर्थात् सम्पूर्ण जीवन के लिये पाप से निवृत्त होने का जो संकल्प किया जाता है, वह यावत्कथिकप्रतिक्रमण है।

५. यत्किंचित्-मिथ्याप्रतिक्रमण—सावधानीपूर्वक जीवनयापन करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार असंयमरूप आचरण हो जाने पर उसी क्षण उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चात्ताप करना।

६. स्वप्नान्तिकप्रतिक्रमण—स्वप्न में कोई विकार-वासना-रूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप करना।

---

७१. स्थानांग ६।५३७

ये जो छह प्रकार प्रतिक्रमण के प्रतिपादित किये गये हैं, इनका मुख्य सम्बन्ध श्रमण की जीवनचर्या से है।

संक्षेप में जिनका प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, उनका संक्षेप में वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है— २५ मिथ्यात्व, १४ ज्ञानातिचार और अठारह पापस्थानों का प्रतिक्रमण सभी साधकों के लिये आवश्यक है। दूसरी बात पंच महाव्रत; मन, वाणी, शरीर का असंयम; गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप एवं मल-मूत्र-विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण भी श्रमण साधकों के लिये आवश्यक है। पंच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों के लिये आवश्यक है। जिन साधकों ने संलेखना व्रत ग्रहण कर रखा हो, उनके लिये संलेखना के पांच अतिचारों का प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राणतत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश स्खलना न हो सके। चाहे लघुशंका से निवृत्त होते समय, चाहे शौचनिवृत्ति करते समय, चाहे प्रतिलेखना करते समय, चाहे भिक्षा के लिये इधर-उधर जाते समय साधक को उन स्खलनाओं के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिये। उन स्खलनाओं के सम्बन्ध में किंचिन्मात्र भी उपेक्षा न रखकर उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये। क्योंकि प्रतिक्रमण जीवन को मांजने की एक अपूर्व क्रिया है।

साधक प्रतिक्रमण में अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है, उसके मन में, वचन में, काया में एकरूपता होती है। साधक साधना करते समय कभी क्रोध, मान, माया, लोभ से साधनाच्युत हो जाता है, उससे भूल हो जाती है तो वह प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का गहराई से अवलोकन कर एक-एक दोष का परिष्कार करता है। यदि मन में छिपे हुए दोष को लज्जा के कारण प्रकट नहीं कर सका, उन दोषों को भी सद्‌गुरु के समक्ष या भगवान् की साक्षी से प्रकट कर देता है। जैसे कुशल चिकित्सक परीक्षण करता है, और शरीर में रही हुई व्याधि को एक्स-रे आदि के द्वारा बता देता है, वैसे ही प्रतिक्रमण में साधक प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए, उन दोषों को व्यक्त कर हल्का बनता है।

प्रतिक्रमण साधक-जीवन की एक अपूर्व क्रिया है। यह वह डायरी है जिसमें साधक अपने दोषों की सूची लिखकर एक-एक दोष से मुक्त होने का उपक्रम करता है। वही कुशल व्यापारी कहलाता है, जो प्रतिदिन सायंकाल देखता है कि आज के दिन मैंने कितना लाभ प्राप्त किया है? जिस व्यापारी को अपनी आमदनी का ज्ञान नहीं है, वह सफल व्यापारी नहीं हो सकता। साधक को देखना चाहिये कि आज के दिन ऐसा कौन सा कर्त्तव्य था जो मुझे करना चाहिये था, किन्तु प्रमाद के कारण मैं उसे नहीं कर सका? मुझे अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिये था। इस प्रकार वह अपनी भूलों को स्मरण करता है। भूलों का स्मरण करने से उसे अपनी सही स्थिति का परिज्ञान हो जाता है। जब तक भूलों का स्मरण नहीं होगा, भूलों को भूल नहीं समझा जाएगा, तब तक उनका परिष्कार हो नहीं सकता। साधक अनेक बार अपनी भूलों को भूल न मानकर उन्हें सही मानता है पर वस्तुतः वह उसकी भूलें ही होती हैं। कितने ही व्यक्ति भूल को भूल समझते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते। पर जब साधक अन्तर्निरीक्षण करता है तो उसे अपनी भूल का परिज्ञान होता है। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध विचारक फ्रेंकलिन ने अपने जीवन को डायरी के माध्यम से सुधारा था। उसके जीवन में अनेक दुर्गुण थे। वह अपने दुर्गुणों को डायरी में लिखा करता था और फिर गहराई से उनका चिन्तन करता था कि इस सप्ताह में मैंने कितनी भूलें की हैं। अगले सप्ताह में इन भूलों की पुनरावृत्ति नहीं करूंगा। इस प्रकार डायरी के द्वारा उसने जीवन के दुर्गुणों को धीरे-धीरे निकाल दिया था और एक महान् सद्‌गुणी चिन्तक बन गया था।

प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपक्रम है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है। आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि में सभी दोष जल कर नष्ट हो जाते हैं। पापाचरण शल्य के सदृश है। यदि उसे बाहर नहीं निकाला गया, मन में ही छिपा कर रखा गया तो उसका विष अन्दर ही अन्दर बढ़ता चला जायेगा और वह विष साधक के जीवन को बर्बाद कर देगा।

मानव की एक बड़ी कमजोरी यह है कि वह अपने सद्गुणों को तो सदा स्मरण रखता है किन्तु दुर्गुणों को भूल जाता है। साथ ही वह अन्य व्यक्तियों के सद्गुणों को भूलकर उनके दुर्गुणों को स्मरण रखता है। यही कारण है कि वह यदा कदा अपने सद्गुणों की सूची प्रस्तुत करता है और दूसरों के दुर्गुणों की गाथाएं गाता हुआ नहीं अघाता। जब कि साधक को दूसरों के सद्गुण और अपने दुर्गुण देखने चाहिये। प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्दों में निन्दा और गर्हा शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दूसरों की निन्दा से कर्म-बन्धन होता है और स्वनिन्दा से कर्मों की निर्जरा होती है। जब साधक अपने जीवन का निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में हजारों दुर्गुण दिखाई देते हैं। उन दुर्गुणों को वह धीरे-धीरे निकालने का प्रयास करता है। साधक के जीवन की यह विशेषता है कि वह गुणग्राही होता है। उसकी दृष्टि हंस-दृष्टि होती है। वह हंस की तरह सद्गुणों के पय को ग्रहण करता है, मुक्ताओं को चुगता है। वह काक की तरह विष्ठा पर मुंह नहीं रखता।

बौद्धधर्म में प्रवारणा

जैनधर्म में व्यवस्थित रूप से निशान्त और दिवसान्त में जिस प्रकार साधकों के लिये प्रतिक्रमण करने का विधान है, उसी प्रकार पाप से मुक्त होने के विधान अन्य परम्पराओं में भी पाये जाते हैं। बौद्धधर्म में प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है पर उसके स्थान पर प्रतिकर्म, प्रवारणा और पापदेशना प्रभृति शब्दों का प्रयोग हुआ। उदान में तथागत बुद्ध ने कहा—जीवन की निर्मलता एवं दिव्यता के लिये पापदेशना आवश्यक है। पाप के आचरण की आलोचना करने से व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है।[७२] खुला हुआ पाप चिपकता नहीं। बौद्धधर्म में प्रवारणा का अत्यधिक महत्त्व रहा है। वर्षावास के पश्चात् भिक्षुसंघ एकत्रित होता और अपने कृत अपराधों / दोषों के सम्बन्ध में गहराई से निरीक्षण करता कि हमारे जीवन में प्रस्तुत वर्षावास में क्या-क्या दोष लगे हैं? यह प्रवारणा है। इसमें दृष्ट, श्रुत, परिशंकित अपराधों का परिमार्जन किया जाता। जिससे परस्पर विनय का अनुमोदन होता।[७३] प्रवारणा की विधि इस प्रकार थी—प्रमुख भिक्षु संघ को यह सूचित करता कि आज प्रवारणा है। सर्वप्रथम स्थविर भिक्षु उत्तरासंघ को अपने कंधे पर रखकर कुक्कुट आसन से बैठता। हाथ जोड़कर संघ से यह निवेदन करता कि मैं दृष्ट, श्रुत, परिशंकित अपराधों की आपके सामने प्रवारणा कर रहा हूं। संघ मेरे अपराधों को बताये, मैं उनका स्पष्टीकरण करूंगा। वह इस बात को तीन बार दोहराता है। उसके बाद उससे छोटा भिक्षु और फिर क्रमशः सभी भिक्षु दोहराते हैं अपने पापों को। इस प्रकार प्रवारणा से पाक्षिक शुद्धि की जाती है। प्रवारणा चतुर्दशी और पूर्णिमा को की जाती। पहले कम से कम पांच भिक्षु प्रवारणा में आवश्यक माने जाते थे। उसके बाद चार, तीन, दो और अन्त में एक भिक्षु भी प्रवारणा कर सकता है—यह अनुमति दी गई। विशेष स्थिति में प्रवारणा बहुत ही संक्षेप में और अन्य समय में भी की जा सकती थी।

---

७२. उदान ५/५ अनुवादक—जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ

७३. अनुजानामि भिक्खवे, वस्सं, वुट्ठानं, भिक्खूनं तीहि ठानेहि पकारेतु दिट्ठेन वा सुतेन वा परिसंकाय वा। सा वो भविस्सति अञ्ञामञ्ञानुलोमता आपत्तिवुट्ठानता विनयपुरेक्खा रता। —महावग्ग, पृ० १६७

बोधिचर्यावतार[७४] नामक ग्रन्थ में आचार्य शान्तिदेव ने लिखा है—रात्रि में तीन बार और दिन में तीन बार त्रिस्कन्ध, पापदेशना-पुण्यानुमोदना और बोधिपरिणामना की आवृत्ति करनी चाहिये, जिससे अनजाने में हुई स्खलनाओं का शमन हो जाता है। आचार्य शान्तिदेव ने ही पापदेशना के प्रकृतिसावद्य और प्रज्ञप्तिसावद्य—ये दो प्रकार बताये हैं। प्रकृतिसावद्य वह है, जो स्वभाव से ही निन्दनीय है—जैसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि और प्रज्ञप्तिसावद्य है—व्रत ग्रहण करने के पश्चात् उसका भंग करना—जैसे विकाल भोजन, परिग्रह आदि। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं—जो भी प्रकृतिसावद्य और प्रज्ञप्तिसावद्य पाप मुझ अबोध मूढ ने कमाये हैं, उन सब की देशना दुःख से घबराकर मैं प्रभु के सामने हाथ जोड़कर बारम्बार प्रणाम करता हूँ। हे नायको ! अपराध को अपराध के रूप में ग्रहण करो। मैं यह पाप फिर नहीं करूंगा। बौद्ध प्रवारणा, जैसा कि हमने पूर्व पंक्तियों में लिखा है, एकाकी नहीं होती। वह तो संघ के सान्निध्य में ही होती है। इस प्रवारणा में जो ज्येष्ठ भिक्षु आचारसंहिता का पाठ करता है और प्रत्येक नियम के पढ़ने के पश्चात् उपस्थित भिक्षुओं से वह इस बात की अपेक्षा करता है कि यदि किसी ने नियम का भंग किया है तो वह संघ के समक्ष उसे प्रकट कर दे। जैन परम्परा में गुरु के समक्ष या गीतार्थ के समक्ष पापों की आलोचना करने का विधान है। पर संघ के समक्ष पाप को प्रकट करने की परम्परा नहीं है। संघ के समक्ष पाप को प्रकट करने से अगीतार्थ व्यक्ति उसका दुरुपयोग भी कर सकते हैं। उससे निन्दा की स्थिति भी बन सकती है। इसलिये जैनधर्म ने गीतार्थ के सामने आलोचना का विधान किया। संघ के समक्ष जो प्रवारणा है, उसकी तुलना वर्तमान में प्रचलित सामूहिक प्रतिक्रमण के साथ की जा सकती है।

प्रतिक्रमण और संध्या

वैदिक परम्परा में प्रतिक्रमण की तरह संध्या का विधान है। यह एक धार्मिक अनुष्ठान है जो प्रातः और सायं काल दोनों समय किया जाता है। संध्या का अर्थ है—सम्—उत्तम प्रकार से ध्यै—ध्यान करना। अपने इष्टदेव का भक्ति-भावना से विभोर होकर श्रद्धा के साथ ध्यान करना, चिन्तन करना। संध्या का दूसरा अर्थ है—मिलन/संयोग/सम्बन्ध। उपासना के समय उपासक का परमेश्वर के साथ संयोग या सम्बन्ध होना। तीसरा अर्थ है—रात्रि और दिन की सन्धि-वेला में जो धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं, वह सन्ध्या है। इस संध्या में विष्णुमंत्र के द्वारा शरीर पर जल छिटक कर शरीर को पवित्र बनाने का उपक्रम किया जाता है। पृथ्वी माता की स्तुति से अभिमंत्रित कर आसन पर जल छिटक कर उसे पवित्र किया जाता है। उसके बाद सृष्टि के उत्पत्तिक्रम पर विचार होता है, फिर प्राणायाम का चक्र चलता है। अग्नि, वायु, आदित्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्व देवताओं की महिमा और गरिमा गाई गई है। सप्तव्याहृति इन्हीं देवों के लिये होती है। वैदिक महर्षियों ने जल की संस्तुति बहुत ही भावना के साथ की है। उन्होंने कहा—हे जल ! आप जीव मात्र के मध्य में विचरते हो, ब्रह्माण्ड रूपी गुहा में सब ओर आपकी गति है। तुम्हीं यज्ञ हो, वषट्कार हो, अप् हो, ज्योति हो, रस हो और अमृत भी तुम्हीं हो।[७५] संध्या में तीन बार सूर्य को जल के द्वारा अर्घ्य दिया जाता है। प्रथम अर्घ्य में तीन राक्षसों की सवारी का, दूसरे में राक्षसों के शस्त्रों का और तीसरे में राक्षसों के नाश की कल्पना की जाती है। उसके पश्चात् गायत्रीमन्त्र पढ़ा जाता है। उसमें सूर्य से बुद्धि एवं स्फूर्ति की प्रार्थना की जाती है। इन स्तुतियों में जल छिटकने की भी प्रथा है, जो बाह्याचार पर आधृत है। अन्तर्जगत

---

७४. बोधिचर्यावतार ५/९८

७५. ॐ अन्तश्चरसि भूतेषु, गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार, आपो ज्योतिरसोऽमृतम् ॥

की भावनाओं को स्पर्श कर पाप-मल से आत्मा को मुक्त करने का उपक्रम नहीं है। एक मन्त्र में इस प्रकार के भाव अवश्य ही व्यक्त हुए हैं—

"सूर्य नारायण, यक्षपति और देवताओं से मेरी प्रार्थना है—यक्ष विषयक तथा क्रोध से किये हुए पापों से मेरी रक्षा करें। दिन और रात्रि में मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर और शिश्न से जो पाप हुए हों उन पापों को मैं अमृतयोनि सूर्य में होम करता हूँ। इसलिये वह उन पापों को नष्ट करें।"[७६]

कृष्णयजुर्वेद में एक मन्त्र है कि मेरे मन, वाणी और शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो, मैं उसका विसर्जन करता हूँ।[७७]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में संध्या के द्वारा आचरित पापों के क्षय के लिये प्रभु से अभ्यर्थना की जाती है। यह एक दृष्टि से प्रतिक्रमण से ही मिलता-जुलता रूप है।

पारसी धर्म में भी पाप को प्रकट करने का विधान है। खोरदेह अवस्ता पारसी धर्म का मुख्य ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ में कहा गया है—मेरे मन में जो बुरे विचार समुत्पन्न हुए हों, वाणी से तुच्छ भाषा का प्रयोग हुआ हो और शरीर से जो अकृत्य किये हों, जो भी मैंने दुष्कृत्य किये हैं, मैं उसके लिये पश्चात्ताप करता हूँ। अहंकार, मृत व्यक्तियों की निन्दा, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, बुरी दृष्टि से निहारना, स्वच्छंदता, आलस्य, कानाफूसी, पवित्रता का भंग, मिथ्या साक्ष्य, तस्करवृत्ति, व्यभिचार, जो भी पाप मुझसे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हुए हैं, उन दुष्कृत्यों को मैं सरल हृदय से प्रकट करता हूँ। उन सबसे अलग होकर पवित्र होता हूँ।[७८]

ईसाई धर्म के प्रणेता महात्मा यीशु ने पाप को प्रकट करना आवश्यक माना है। पाप को छिपाने से वह बढ़ता है और प्रकट कर देने से वह घट जाता है या नष्ट हो जाता है। इस तरह पाप को प्रकट कर दोषों से मुक्त होने का उपाय जो बताया गया है वह प्रतिक्रमण से मिलता-जुलता है। प्रतिक्रमण जीवनशुद्धि का श्रेष्ठतम प्रकार है। किसी धर्म में उसकी विस्तार से चर्चा है तो किसी में समास से। पर यह सत्य है कि सभी ने उसको आवश्यक माना है।

कायोत्सर्ग

जैन साधनापद्धति में कायोत्सर्ग का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। कायोत्सर्ग को अनुयोगद्वार सूत्र में व्रणचिकित्सा कहा है। सतत सावधान रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण साधना में दोष लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं। भूलों रूपी घावों को ठीक करने के लिये कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है। वह अतिचार रूपी घावों को ठीक कर देता है। एक वस्त्र बहुत ही मलीन हो गया है, उसे साफ करना है, वह एक बार में साफ नहीं होगा, उसे बार-बार साबुन लगाकर साफ किया जाता है। उसी प्रकार संयम रूपी वस्त्र पर भी अतिचारों का मैल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं। उन दागों को प्रतिक्रमण के द्वारा स्वच्छ किया जाता है। प्रतिक्रमण में भी जो दाग नहीं मिटते, उन्हें कायोत्सर्ग के द्वारा हटाया जाता है। कायोत्सर्ग में गहराई से चिन्तन कर उस दोष को नष्ट करने का उपक्रम किया जाता है। कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है?

---

७६. ओम् सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद् अह्ना यद् राह्या पापमकार्ष मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु, यत् किञ्चिद् दुरितं मयि इदमहमापोऽमृत-योनी सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।"

७७. कृष्णयजुर्वेद—दर्शन और चिन्तन : भाग २, पृ० १९२ से उद्धृत।

७८. खोरदेह अवस्ता, पृ० ५/२३-२४

उस प्रश्न पर आवश्यकसूत्र में चिन्तन करते हुए लिखा है—संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिये, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य से मुक्त करने के लिये, पाप कर्मों के निर्घात के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है।[७९]

कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग— ये दो शब्द हैं। जिसका तात्पर्य है—काय का त्याग। पर जीवित रहते हुए शरीर का त्याग सम्भव नहीं है। यहाँ पर शरीरत्याग का अर्थ है—शारीरिक चंचलता और देहासक्ति का त्याग। साधक कुछ समय तक संसार के भौतिक पदार्थों से अलग-थलग रहकर आत्मस्वरूप में लीन होता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुखी होने की एक पवित्र साधना है। बहिर्मुखी स्थिति से साधक अन्तर्मुखी स्थिति में पहुंचता है और अनासक्त बनकर राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। कायोत्सर्ग से शारीरिक ममता कम हो जाती है। शरीर की ममता साधना के लिये सबसे बड़ी बाधा है। कायोत्सर्ग में शरीर की ममता कम होने से साधक शरीर को सजाने-संवारने से हटकर आत्मभाव में लीन रहता है। यही कारण है कि साधक के लिये कायोत्सर्ग दुःखों का अन्त करने वाला बताया गया है। साधक जो भी कार्य करे, उस कार्य के पश्चात् कायोत्सर्ग करने का विधान है, जिससे वह शरीर की ममता से मुक्त हो सके।

षडावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतंत्र स्थान दिया गया है। जो इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि प्रत्येक साधक को प्रातः और संध्या के समय यह चिन्तन करना चाहिये कि यह शरीर पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। मैं अजर, अमर, अविनाशी हूँ। यह शरीर क्षणभंगुर है। कमल-पत्र पर पड़े हुए ओसबिन्दु की तरह यह शरीर कब नष्ट हो जाये, कहा नहीं जा सकता। शरीर के लिये मानव अकार्य भी करता है। शरीर के पोषण हेतु भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक नहीं रख पाता। कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर की ममता कम की जाती है। कायोत्सर्ग में जब साधक अवस्थित होता है तब डांस, मच्छरों के व सर्दी-गर्मी के कैसे भी उपसर्ग क्यों न हों, वह शान्त भाव से सहन करता है। वह देह में रहकर भी देहातीत स्थिति में रहता है। आचार्य धर्मदास ने उपदेशमाला ग्रन्थ में लिखा है कि कायोत्सर्ग के समय प्रावरण नहीं रखना चाहिये।

कायोत्सर्ग में साधक चट्टान की तरह पूर्ण रूप से निश्चल, निस्पन्द होता है। जिनमुद्रा में वह शरीर का ममत्व त्याग कर आत्मभाव में रमण करता है। आचार्य भद्रबाहु[८०] ने लिखा है—कायोत्सर्ग की स्थिति में साधक को यदि कोई भक्तिभाव से चन्दन लगाये या कोई द्वेषपूर्वक बसूले से शरीर का छेदन करे, चाहे उसका जीवन रहे अथवा मृत्यु का वरण करना पड़े—वह सब स्थितियों में सम रहता है। तभी कायोत्सर्ग विशुद्ध होता है। कायोत्सर्ग के समय देव, मानव और तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थित होने पर जो साधक उन्हें समभाव पूर्वक सहन करता है, उसी का कायोत्सर्ग वस्तुतः सही कायोत्सर्ग है।[८१]

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के साधकों के लिये जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है, वे साधक के अन्तर्मानस में बल का सञ्चार करते हैं और वे दृढ़ता के साथ कायोत्सर्ग में तल्लीन हो जाते हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह मिथ्याग्रह के चक्कर में पड़कर अपने जीवन को होम दे। क्योंकि सभी साधकों की स्थिति

---

७९. तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं। —आवश्यकसूत्र

८०. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४८

८१. तिविहाणुवसग्गाणं माणुसाण तिरियाणं।
सम्ममहियासणाए काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४९

समान नहीं होती । कुछ साधक विशिष्ट हो सकते हैं, वे कष्टों से घबराते नहीं, शेर की तरह साहसपूर्वक आगे बढ़ते हैं । पर कुछ दुर्बल साधक भी होते हैं, उनके लिये आवश्यकसूत्र में आगारों का निर्देश है । कायोत्सर्ग में खाँसी, छींक, डकार, मूर्च्छा प्रभृति विविध शारीरिक व्याधियाँ हो सकती हैं । कभी शरीर में प्रकम्पन आदि भी हो सकता है । तो भी कायोत्सर्ग भंग नहीं होता । किसी समय साधक कायोत्सर्ग में खड़ा है, उस समय मकान की दीवार या छत गिरने की भी स्थिति पैदा हो सकती है । मकान में या जहाँ वह खड़ा है वहाँ पर अग्निकांड भी हो सकता है । तस्कर और राजा आदि के भी उपसर्ग हो सकते हैं । उस समय कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर साधक सुरक्षित स्थान पर भी जा सकता है । उसका कायोत्सर्ग भंग नहीं होगा, क्योंकि कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि है । यदि समाधि भंग होती है तो आर्त्त और रौद्र ध्यान में परिणत होती है । यह परिणति कायोत्सर्ग को भंग कर देती है । जिस कायोत्सर्ग में समाधि की अभिवृद्धि होती हो, वह कायोत्सर्ग ही हितावह है । किन्तु जिस कार्य को करने से असमाधि की वृद्धि होती हो, आर्त्त और रौद्र ध्यान बढ़ते हों, वह कायोत्सर्ग के नाम पर किया गया कायक्लेश है । आचार्य भद्रबाहु ने तो यहाँ तक कहा है कि एक साधक कायोत्सर्ग-मुद्रा में लीन है और यदि किसी दूसरे साधक को सांप आदि ने डस लिया तो ऐसी स्थिति में वह साधक उसी समय कायोत्सर्ग छोड़ कर दंशित साधक की सहायता करे । उस समय कायोत्सर्ग की अपेक्षा सहयोग देना ही श्रेयस्कर है ।

कायोत्सर्ग का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि शारीरिक चंचलता का त्याग कर वृक्ष की भांति या पर्वत की तरह या सूखे काष्ठ की तरह साधक निस्पंद खड़ा हो जाये । शरीर से सम्बन्धित निस्पन्दता तो एकेन्द्रिय आदि प्राणियों में भी हो सकती है । पर्वत पर चाहे जितने भी प्रहार करो, वह कब चंचल होता है ? वह किसी पर रोष भी नहीं करता । उसमें जो स्थैर्य है, वह अविकसित प्राणी का स्थैर्य है किन्तु कायोत्सर्ग में होने वाला स्थैर्य भिन्न प्रकार का है । आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने कायोत्सर्ग के दो प्रकार बताये हैं—१. द्रव्य-कायोत्सर्ग और भावकायोत्सर्ग ।[८२] द्रव्यकायोत्सर्ग में पहले शरीर का निरोध किया जाता है । शारीरिक चंचलता और ममता का परित्याग कर जिन-मुद्रा में स्थिर होना, कायचेष्टा का निरुन्धन करना, यह काय-कायोत्सर्ग है । इसे द्रव्यकायोत्सर्ग भी कहते हैं । इसके पश्चात् साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता है । मन को पवित्र विचार और संकल्प से बांधता है, जिससे उसको किसी भी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव नहीं होता । वह तन में रहकर भी तन से अलग-थलग आत्मभाव में रहता है । यही भावकायोत्सर्ग का भाव है । इस प्रकार का कायोत्सर्ग ही सभी प्रकार के दुःखों को नष्ट करने वाला है ।[८३]

द्रव्य और भाव के भेद को समझने के लिये आचार्यों ने कायोत्सर्ग के चार प्रकार बतलाये हैं—
१. उत्थित-उत्थित २. उत्थित-निविष्ट ३. उपविष्ट-उत्थित ४. उपविष्ट-निविष्ट ।

१. उत्थित-उत्थित—इस कायोत्सर्ग-मुद्रा में जब साधक खड़ा होता है तो उसके साथ ही उसके अन्तर्मानस में चेतना भी खड़ी हो जाती है । वह अशुभ ध्यान का परित्याग कर प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है । वह प्रथम श्रेणी का साधक है । उसका तन भी उत्थित है और मन भी । वह द्रव्य और भाव दोनों ही दृष्टियों से उत्थित है ।

---

८२. सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति ।
दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं ॥ —आवश्यकचूर्णि

८३. काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणो । —उत्तराध्ययन २६-४२

२. उत्थित-निविष्ट—कुछ साधक साधना की दृष्टि से आँख मूंदकर खड़े हो जाते हैं। वे शारीरिक दृष्टि से तो खड़े दिखाई देते हैं किन्तु मानसिक दृष्टि से उनमें कुछ भी जागृति नहीं होती। उनका मन संसार के विविध पदार्थों में उलझा रहता है। आर्त्त और रौद्र ध्यान की धारा में वह अवगाहन करता रहता है। तन से खड़े होने पर भी उनका मन बैठा है। अतः उत्थित होकर भी वह साधक निविष्ट हैं।

३. उपविष्ट-उत्थित—कभी-कभी शारीरिक अस्वस्थता अथवा वृद्धावस्था के कारण कायोत्सर्ग के लिये साधक खड़ा नहीं हो सकता। वह शारीरिक सुविधा की दृष्टि से पद्मासन आदि सुखासन से बैठकर कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से वह बैठा हुआ है किन्तु मन में तीव्र, शुभ-शुद्धभाव धारा प्रवाहित हो रही होती है, जिसके कारण बैठने पर भी वह मन से उत्थित है। शरीर भले ही बैठा है किन्तु साधक का मन उत्थित है।

४. उपविष्ट-निविष्ट—कोई साधक शारीरिक दृष्टि से समर्थ होने पर भी आलस्य के कारण खड़ा नहीं होता। बैठे-बैठे ही वह कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से वह बैठा हुआ है और भाव की दृष्टि से भी उसमें जागृति नहीं है। उसका मन सांसारिक विषय-वासना में या रागद्वेष में फंसा हुआ है। उसका तन और मन दोनों ही बैठे हुए हैं। कायोत्सर्ग के इन चार प्रकारों में प्रथम और तृतीय प्रकार का कायोत्सर्ग ही सही कायोत्सर्ग है। इन कायोत्सर्गों के द्वारा ही साधक साधना के महान् लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिन्तनधारा की दृष्टि से आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति[८४] में कायोत्सर्ग के नौ प्रकार बताये हैं—

शारीरिक स्थिति		मानसिक विचारधारा
१. उत्सृत-उत्सृत	खड़ा	धर्म-शुक्लध्यान
२. उत्सृत	खड़ा	न धर्म-शुक्ल, न आर्द्र-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
३. उत्सृत-निषण्ण	खड़ा	आर्त-रौद्र ध्यान
४. निषण्ण-उत्सृत	बैठा	धर्म-शुक्ल ध्यान
५. निषण्ण	बैठा	न धर्म-शुक्लध्यान, न आर्त-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
६. निषण्ण-निषण्ण	बैठा	आर्त-रौद्रध्यान
७. निषण्ण-उत्सृत	लेटा	धर्म-शुक्लध्यान
८. निषण्ण	लेटा	न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
९. निषण्ण-निषण्ण	लेटा	आर्त्त-रौद्रध्यान

कायोत्सर्ग खड़े होकर, बैठ कर और लेट कर तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़ी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने की रीति इस प्रकार है—दोनों हाथों को घुटनों की ओर लटका लें, पैरों को सम रेखा में रखें, एड़ियां मिली हों और दोनों पैरों के पंजों में चार अंगुल का अन्तर हो। बैठी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला पद्मासन या सुखासन से बैठे। हाथों को या तो घुटनों पर रखे या बायीं हथेली पर दायीं हथेली रखकर उन्हें अंक में रखे। लेटी हुई मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को पहले ताने फिर स्थिर करे। हाथ-पैर को सटाये हुए न रखे। इन सभी में अंगों का स्थिर और शिथिल होना आवश्यक है।[८५]

---

८४. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४५९-६०

८५. योगशास्त्र ३, पत्र २५०

खड़े होकर कायोत्सर्ग करने की एक विशेष परम्परा रही है। क्योंकि तीर्थंकर प्राय: इसी मुद्रा में कायोत्सर्ग करते हैं। आचार्य अपराजित ने लिखा है कि कायोत्सर्ग करने वाला साधक शरीर से निष्क्रिय होकर खम्भे की तरह खड़ा हो जाय। दोनों बाहुओं को घुटनों की ओर फैला दे। प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाये। शरीर को एकदम अकड़ा कर न खड़ा रखे और न एकदम झुकाकर ही। वह सममुद्रा में खड़ा रहे। कायोत्सर्ग में कष्टों और परीषहों को समभाव से सहन करे। कायोत्सर्ग जिस स्थान पर किया जाए, वह स्थान एकान्त, शान्त और जीव-जन्तुओं से रहित हो।[८६]

द्रव्यकायोत्सर्ग, भावकायोत्सर्ग की ओर बढ़ने का एक उपक्रम है। द्रव्य स्थूल है, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ा जाता है। द्रव्यकायोत्सर्ग में बाह्य वस्तुओं का परित्याग किया जाता है, जैसे—उपधि का त्याग करना, भक्त-पान आदि का त्याग करना, पर भावकायोत्सर्ग में तीन बातें आवश्यक हैं—कषाय-व्युत्सर्ग, संसार-व्युत्सर्ग और कर्मव्युत्सर्ग।

कषायव्युत्सर्ग में चारों प्रकार के कषायों का परिहार किया जाता है। क्षमा के द्वारा क्रोध को, विनय के द्वारा मान को, सरलता से माया को तथा सन्तोष से लोक को जीता जाता है।

संसारव्युत्सर्ग में संसार का परित्याग किया जाता है। संसार चार प्रकार का है—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार और भावसंसार।[८७] द्रव्यसंसार चार गति रूप है। क्षेत्रसंसार अध:, ऊर्ध्व और मध्य लोक रूप है। कालसंसार एक समय से लेकर पुद्‌गलपरावर्तन काल तक है। भावसंसार जीव का विषयासक्ति रूप भाव है, जो संसार-भ्रमण का मूल कारण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल संसार का त्याग नहीं किया जा सकता है। आचारांग[८८] में कहा है—जो इन्द्रियों के विषय हैं—वे ही वस्तुत: संसार हैं और उनमें आसक्त हुआ आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। आगम साहित्य में यत्र-तत्र "संसारकंतारे" शब्द का व्यवहार हुआ है। जिसका अर्थ है—संसार के चार गति रूप किनारे हैं। संसार परिभ्रमण के जो मूल कारण हैं, उन मूल कारणों का त्याग करना। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग का परित्याग करना ही संसारव्युत्सर्ग है।

अष्ट प्रकार के कर्मों को नष्ट करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसे कर्मव्युत्सर्ग कहते हैं। कायोत्सर्ग के जो विविध प्रकार बताये गये हैं, उनमें शारीरिक दृष्टि से और विचार की दृष्टि से भेद किये गये हैं। प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद किये गये हैं—चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग।[८९]

चेष्टाकायोत्सर्ग दोषविशुद्धि के लिये किया जाता है। जब श्रमण शौच, भिक्षा आदि कार्यों के लिये बाहर जाता है तथा निद्रा आदि में प्रवृत्ति होती है, उसमें दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिये प्रस्तुत कायोत्सर्ग किया जाता है। अभिभवकायोत्सर्ग दो स्थितियों में किया जाता है—प्रथम दीर्घकाल तक आत्मचिन्तन के लिए

---

८६. तत्र शरीरनिस्पृह:, स्थाणुरिवोर्ध्वकाय: प्रलंबितभुज: प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमिता नतकाय: परीषहानुपसर्गांश्च सहमान: तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे।

—मूलाराधना २-११३, विजयोदया पृ. २७८-२७९

८७. चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा—
दव्वसंसारे, खेत्तसंसारे, कालसंसारे, भाव संसारे।

—स्थानांग ४, १२, ६१

८८. जे गुणे से आवट्टे।

—आचारांग १।१।५

८९. सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे बिइओ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४५२

था आत्मशुद्धि के लिये मन को एकाग्र कर कायोत्सर्ग करना और दूसरा संकट आने पर। जैसे—विप्लव, अग्निकांड, दुर्भिक्ष आदि। चेष्टाकायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधारित है। यह कायोत्सर्ग विभिन्न स्थितियों में ८, २५, २७, ३००, ५०० और १००८ उच्छ्वास तक किया जाता है। अभिभवकायोत्सर्ग का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष तक यह कायोत्सर्ग किया था।[९०] दोषविशुद्धि के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह कायोत्सर्ग दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक रूप से पांच प्रकार का है।

षडावश्यक में जो कायोत्सर्ग है, उसमें चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान किया जाता है। चतुर्विंशतिस्तव में सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं।[९१] एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। एक चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान पच्चीस उच्छ्वासों में सम्पन्न होता है। प्रथम श्वास लेते समय मन में 'लोगस्स उज्जोयगरे' कहा जायेगा और सांस को छोड़ते समय 'धम्मतित्थयरे जिणे' कहा जायेगा। द्वितीय सांस लेते समय 'अरिहंते कित्तइस्सं' और छोड़ते समय 'चउवीसं पि केवली' कहा जायेगा। इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग होता है।

प्रवचनसारोद्धार[९२] में और विजयोदयावृत्ति[९३] में कायोत्सर्ग का ध्येय, परिमाण और कालमान इस प्रकार दिया गया है—

प्रवचनसारोद्धार

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
१. दैवसिक	४	२५	१००	१००
२. रात्रिक	२	१२½	५०	५०
२. पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
४. चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००
५. सांवत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८

---

९०. (क) तत्रचेष्टाकायोत्सर्गोऽष्ट-पंचविंशति-सप्तविंशति त्रिशशतपञ्चशतअष्टोत्तरसहस्रोच्छ्वासान् यावद् भवति। अभिभव-कायोत्सर्गस्तु मुहूर्तादारभ्य संवत्सरं यावद् बाहुबलिरिव भवति। —योगशास्त्र ३, पत्र २५०
(ख) अन्तर्मुहूर्तः कायोत्सर्गस्य जघन्यः कालः वर्षमुत्कृष्टः। —मूलाराधना २, ११६, विजयोदयावृत्ति

९१. योगशास्त्र, ३

९२. चत्तारि दो दुवालस, वीस चत्ता य हुंति उज्जोया।
देवसिय राय पक्खिय, चाउम्मासे य वरिसे य॥
पणवीस अद्धतेरस, सलोग पन्नतरी य बोद्धव्वा।
सयमेगं पणवीसं, बे बावण्णा य वरिसंमि॥
सायं सयं गोसद्धं तिन्नेव सया हवेंति पक्खम्मि।
पंच य चाउम्मासे, वरिसे अट्ठोत्तर सहस्सा॥

९३. सायाह्ने उच्छ्वासशतकं प्रत्यूषसि पंचाशत, पक्षे त्रिशतानि।
चतुर्षु मासेसु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासानाम्॥
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ।

—मूलाराधना-विजयोदयावृत्ति १,११६

विजयोदया

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
१. दैवसिक	४	२५	१००	१००
२. रात्रिक	२	१२½	५०	५०
३. पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
४. चातुर्मासिक	१६	१००	४००	४००
५. सांवत्सरिक	२०	१२५	५००	५००

प्रवचनसारोद्धार और विजयोदयावृत्ति में जो उच्छ्वास संख्या कायोत्सर्ग की दी गई है, उसमें एक-रूपता नहीं है। यह ऊपर की पंक्तियों में जो चार्ट दिया गया है, उससे सहज जाना जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य अमितगति[३४] ने यह विधान किया है—दैवसिक कायोत्सर्ग में १०८ और रात्रि के कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वासों का ध्यान करना चाहिये और अन्य कायोत्सर्ग में २७ उच्छ्वासों का ध्यान करना चाहिये। २७ उच्छ्वासों में नमस्कार मन्त्र की नौ आवृत्तियां हो जाती हैं, क्योंकि ३ उच्छ्वासों में एक नमस्कार महामंत्र पर ध्यान किया जाता है। 'नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं' एक उच्छ्वास में, 'नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं' दूसरे उच्छ्वास में तथा 'नमो लोए सव्वसाहूणं' तीसरे उच्छ्वास में—इस प्रकार ३ उच्छ्वासों में एक नमस्कार महामन्त्र का ध्यान पूर्ण होता है। आचार्य अमितगति का अभिमत है कि श्रमण को दिन और रात में कुल अट्ठाईस वार कायोत्सर्ग करना चाहिये।[९५] स्वाध्यायकाल में १२ वार, वन्दनकाल में ६ वार, प्रतिक्रमणकाल में ८ वार, योगभक्ति काल में २ वार—इस प्रकार कुल अट्ठाईस वार कायोत्सर्ग करना चाहिये। आचार्य अपराजित का मन्तव्य है कि पंच महाव्रत सम्बन्धी अतिक्रमण होने पर १०८ उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करना चाहिये। कायोत्सर्ग करते समय मन की चंचलता से या उच्छ्वासों की संख्या की परिगणना में संदेह समुत्पन्न हो जाये तो आठ उच्छ्वासों का और अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिये।[९६]

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के साहित्य के पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट है कि अतीत काल में श्रमण साधकों के लिये कायोत्सर्ग का विधान विशेष रूप से रहा है। उत्तराध्ययन[९७] के श्रमण समाचारी अध्ययन में और दशवैकालिक चूलिका[९८] में श्रमण को पुनः-पुनः कायोत्सर्ग करने वाला बताया है। कायोत्सर्ग

---

९४. अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्धमन्यस्तत् सप्तविंशतिः॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे।
सन्ति पंचनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति॥
—अमितगति श्रावकाचार ८, ६८-६९

९५. अष्टविंशति संख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः।
अहोरात्रगताः सर्वे षडावश्यककारिणाम्॥
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैः वन्दनायां षडीरिताः।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ॥
—अमितगति श्रावकाचार ८, ६६-६७

९६. मूलाराधना २, ११६ विजयोदया वृत्ति

९७. उत्तराध्ययन २६, ३९-५१

९८. अभिक्खणं काउस्सग्गकारी।
—दशवैकालिक चूलिका २-७

में मानसिक एकाग्रता सर्वप्रथम आवश्यक है। कायोत्सर्ग अनेक प्रयोजनों से किया जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ का उपशमन कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन है।[99] अमंगल, विघ्न और बाधा के परिहार के लिये भी कायोत्सर्ग का विधान प्राप्त होता है। किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में, यात्रा में, यदि किसी प्रकार का उपसर्ग, बाधा या अपशकुन हो जाये तो आठ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये। उस कायोत्सर्ग में नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन् करना चाहिये। द्वितीय बार पुनः बाधा उपस्थित हो जाये तो सोलह श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर दो बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिये। यदि तृतीय बार भी बाधा उपस्थित हो तो ३२ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर चार बार नमस्कार महामंत्र का चिन्तन करना चाहिये। चतुर्थ बार भी यदि बाधा उपस्थित हो तो विघ्न अवश्य ही आने वाला है, ऐसा समझकर शुभ कार्य या विहार यात्रा को प्रारम्भ नहीं करना चाहिये।[100] कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नहीं है। कायोत्सर्ग से शरीर को पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है और मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। इसीलिये कायोत्सर्ग लम्बे समय तक किया जा सकता है। कायोत्सर्ग में मन को श्वास में केन्द्रित किया जाता है एतदर्थ उसका कालमान श्वास गिनती से भी किया जाता है।

कायोत्सर्ग का प्रधान उद्देश्य है आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना और सहज गुण है मानसिक सन्तुलन बनाये रखना। मानसिक सन्तुलन बनाए रखने से बुद्धि निर्मल होती है और शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है। आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के अनेक फल बताए हैं—१. देहजाड्य-बुद्धि—श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि के दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिये उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी समाप्त हो जाती है।

२. मति-जाड्यबुद्धि—कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे चित्त एकाग्र होता है। बौद्धिक जड़ता समाप्त होकर उसमें तीक्ष्णता आती है।

३. सुख-दुःखतितिक्षा—कायोत्सर्ग से सुख-दुःख को सहन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है।

४. अनुप्रेक्षा—कायोत्सर्ग में अवस्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षा या भावना का स्थिरतापूर्वक अभ्यास करता है।

५. ध्यान—कायोत्सर्ग से शुभध्यान का सहज अभ्यास हो जाता है।[101]

कायोत्सर्ग में शारीरिक चंचलता के विसर्जन के साथ ही शारीरिक ममत्व का भी विसर्जन होता है, जिससे शरीर और मन में तनाव उत्पन्न नहीं होता। शरीरशास्त्रियों का मानना है कि तनाव से अनेक शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ समुत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ शारीरिक प्रवृत्ति से—

---

९९. कायोत्सर्गशतक, गाथा ८

१००. सव्वेसु खलियादिसु झाएज्झा पंच मंगलं।
दो सिलोगे व चिंतेज्जा एगग्गो वावि तक्खणं॥
विइयं पुण खलियादिसु, उस्सासा होंति तह य सोलस य।
तइयम्मि उ बत्तीसा, चउत्थम्मि न गच्छइए अण्णं॥ —व्यवहारभाष्य पीठिका, गाथा ११८, ११९

१०१. (क) देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झाइय य सुहं झाणं, एगग्गो काउसग्गम्मि॥ —कायोत्सर्गशतक, गाथा १३

(ख) मणसो एगग्गत्तं जणयइ, देहस्स हणइ जड्डत्तं।
काउस्सग्गगुणा खलु, सुहदुहमज्झत्थया चेव॥ —व्यवहारभाष्य पीठिका, गा. १२५

(ग) प्रयत्नविशेषतः परमलाघवसंभवात्। —वही, वृत्ति

१. स्नायु में शर्करा कम हो जाती है।
२. लैक्टिक एसिड स्नायु में एकत्रित होती है।
३. लेक्टिक एसिड की अभिवृद्धि होने पर शरीर में उष्णता बढ़ जाती है।
४. स्नायुतन्त्र में थकान का अनुभव होता है।
५. रक्त में प्राणवायु की मात्रा न्यून हो जाती है। किन्तु कायोत्सर्ग से—
१. ऐसिड पुनः शर्करा में परिवर्तित हो जाता है।
२. लैक्टिक एसिड का स्नायुओं में जमाव न्यून हो जाता है।
३. लैक्टिक एसिड की न्यूनता से शारीरिक उष्णता न्यून होती है।
४. स्नायुतंत्र में अभिनव ताजगी आती है।
५. रक्त में प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है।

इस प्रकार स्वास्थ्यदृष्टि से कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। मन, मस्तिष्क और शरीर का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। जब इन तीनों में सामंजस्य नहीं होता तब स्नायविक तनाव समुत्पन्न होते हैं। जब हम कोई कार्य करते हैं तब तन और मन में सन्तुलन रहना चाहिये। जब सन्तुलन नहीं रहता तब स्नायविक तनाव बढ़ जाता है। तन अलग कार्य कर रहा है और मन अलग स्थान पर भटक रहा है तो स्नायविक तनाव हो जाता है। कायोत्सर्ग इस स्नायविक तनाव को दूर करने का एक सुन्दर उपाय है।

कायोत्सर्ग में सर्वप्रथम शिथिलीकरण की आवश्यकता है। यदि बैठे-बैठे ही साधक कायोत्सर्ग करना चाहता है तो वह सुखासन या पद्मासन से बैठे। फिर रीढ़ की हड्डी और गर्दन को सीधा करे, उसमें झुकाव और तनाव न हो। अंगोपांग शिथिल और सीधे सरल रहें। उसके पश्चात् दीर्घ श्वास ले। बिना कष्ट के जितना लम्बा श्वास ले सके उतना लम्बा करने का प्रयास करे। इससे शरीर और मन इन दोनों के शिथिलीकरण में बहुत सहयोग मिलेगा। आठ-दस बार दीर्घ श्वास लेने के पश्चात् वह क्रम सहज हो जायेगा। स्थिर बैठने से अपने आप ही कुछ-कुछ शिथिलीकरण हो सकता है और उसके पश्चात् जिस अंग को शिथिल करना हो उसमें मन को केन्द्रित करे। जैसे सर्वप्रथम गर्दन, कन्धा, सीना, पेट, दायें बायें पृष्ठ भाग, भुजाएं, हाथ, हथेली, अंगुली, कटि, पैर आदि सभी की मांसपेशियों को शिथिल किया जाता है।

इस प्रकार शारीरिक अवयव व मांसपेशियों के शिथिल हो जाने से स्थूल शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होकर सूक्ष्म शरीर से—तैजस और कार्मण से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। तैजस शरीर से दीप्ति प्राप्त होती है। कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह शरीर-आत्मैक्य की जो भ्रान्ति है, वह भेदविज्ञान से मिट जाती है। शरीर एक बर्तन के सदृश है। उसमें श्वास, इन्द्रिय, मन और मस्तिष्क जैसी अनेक शक्तियां रही हुई हैं। उन शक्तियों से परिचित होने का सरल मार्ग कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग से श्वास सूक्ष्म होता है। शरीर और मन के बीच में श्वास है। श्वास के पांच प्रकार बताये गये हैं—१. सहज श्वास, २. शान्त श्वास, ३. उखड़ी श्वास, ४. विक्षिप्त श्वास और ५. तेज श्वास।

साधक पहले अभ्यास में गहरा और लम्बा श्वास लेता है। दूसरे अभ्यासक्रम में लयबद्ध श्वास का अभ्यास किया जाता है। तृतीय क्रम में सूक्ष्म, शान्त और जमे हुए श्वास का अभ्यास किया जाता है। चतुर्थ अभ्यासक्रम में सहज कुम्भक की स्थिति होती है। इस स्थिति का निर्माण प्राणायाम, प्रलम्ब जाप और ध्यान से किया जाता है। प्राणायाम का सीधा प्रभाव शरीर पर गिरता है किन्तु मनोग्रन्थि पर चोट करने के लिये मन

का संकल्पबद्ध होना आवश्यक है। कितने ही जैनाचार्यों ने दीर्घ श्वास को उपयोगी माना है किन्तु तेज श्वास को नहीं। उनका मन्तव्य है कि तीव्र श्वास की चोट से शरीर और मन अत्यधिक थकान के कारण शिथिल हो जाते हैं, चेतना के प्रति सावधानता की स्थिति नहीं होती। उस अवस्था में मूर्च्छा और थकान के कारण आने वाली तन्द्रा रूप शून्यता से अपने-आप को बचाना भी कठिन हो जाता है। इसलिये श्वास को उखाड़ना नहीं चाहिये। उसे लम्बा और गहरा करना चाहिये। जितना श्वास धीमा होता है, शरीर में उतनी ही क्रियाशीलता न्यून हो जाती है। श्वास की सूक्ष्मता ही शान्ति है। प्रारम्भ में ऊर्जा का विस्तार और नया उत्पादन नहीं होता। केवल ऊर्जा का संरक्षण होता है और कुछ दिनों के पश्चात् वह संचित ऊर्जा मन को एक दिशागामी बनाकर उसे ध्येय में लगाती है। श्वास की मंदता से शरीर भी निष्क्रिय हो जाता है, प्राण शान्त हो जाते हैं। मन निर्विचार हो जाता है और अन्तर्मानस में तीव्रतम वैराग्य उद्बुद्ध हो जाता है। ज्यों-ज्यों श्वास चंचल होता है, त्यों-त्यों मन भी चंचल होता है। श्वास के स्थिर होने पर मन की चंचलता भी नष्ट हो जाती है।[102] श्वास शरीर में रहा हुआ यंत्र है जिसके अधिक सक्रिय होने पर शरीरकेन्द्रों में उथल-पुथल मच जाती है और सामान्य होते ही उसमें एक प्रकार की शान्ति व्याप्त हो जाती है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शान्ति और समाधि है। जब हमें क्रोध आता है उस समय हमारी सांस की गति तीव्र हो जाती है पर ध्यान में श्वासगति शान्त होने से उसमें मन की स्थिरता होती है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् आती है। प्रतिक्रमण में पापों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है, जिससे धर्मध्यान और शुक्लध्यान में साधक एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। यदि साधक बिना चित्तशुद्धि किये ही कायोत्सर्ग करता है तो उसे उतनी सफलता प्राप्त नहीं होती। एतदर्थ ही षडावश्यक में प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग का विधान किया है।

कायोत्सर्ग को सही रूप से सम्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि कायोत्सर्ग के दोषों से बचा जाये। प्रवचनसारोद्धार प्रभृति ग्रन्थों में कायोत्सर्ग के १९ दोष वर्णित हैं—१. घोटक दोष २. लता दोष ३. स्तंभकुड्य दोष ४. माल दोष ५. शबरी दोष ६. वधु दोष ७. निगड़ दोष ८. लम्बोत्तर दोष ९. स्तन दोष १०. उर्द्धिका दोष ११. संयती दोष १२. खलीन दोष १३. वायस दोष १४. कपित्थ दोष १५. शीर्षोत्कम्पित दोष १६. मूक दोष १७ अंगुलिका भ्रू दोष १८. वारुणी दोष और १९. प्रज्ञा दोष।

इन दोषों का मुख्य सम्बन्ध शरीर से तथा बैठने और खड़े रहने के आसन आदि से है। अतः साधक को इन दोषों से मुक्त होकर कायोत्सर्ग की साधना करनी चाहिये।

जैसे जैनधर्म में कायोत्सर्ग का विधान है, उस पर अत्यधिक बल दिया है, वैसे ही न्यूनाधिक रूप में वह अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी मान्य रहा है। बोधिचर्यावतार[103] ग्रन्थ में आचार्य शान्तिरक्षित ने लिखा है—सभी देहधारियों को जिस प्रकार सुख हो, वैसे ही यह शरीर मैंने न्यौछावर कर दिया है। वे चाहे इसकी हत्या करें, निन्दा करें या इस पर धूल फेंकें, चाहे खेलें, चाहे हँसें, चाहे विलास करें। मुझे इसकी क्या चिन्ता? क्योंकि मैंने शरीर उन्हें ही दे डाला है। इस प्रकार वे देह व्युत्सर्जन की बात करते हैं। कायोत्सर्ग ध्यानसाधना

---

१०२. चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
निष्फलं तं विजानीयात् श्वासो यत्र लयं गतः॥

१०३. बोधिचर्यावतार ३।१२-१३

का ही एक प्रकार है। तथागत बुद्ध ने ध्यानसाधना पर बल दिया। ध्यानसाधना बौद्ध परम्परा में अतीत काल से चली आ रही है। विपश्यना आदि में भी देह के प्रति ममत्व हटाने का उपक्रम है।

प्रत्याख्यान

छठे आवश्यक का नाम प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का अर्थ है—त्याग करना।[१०४] प्रत्याख्यान शब्द की रचना प्रति=आ=आख्यान, इन तीनों शब्दों के संयोग से होती है। अविरति और असंयम के प्रतिकूल रूप में मर्यादा के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना प्रत्याख्यान है।[१०५] दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मस्वरूप के प्रति अभिव्याप्त रूप से, जिससे अनाशंसा गुण समुत्पन्न हो, इस प्रकार का आख्यान अर्थात् कथन करना प्रत्याख्यान है। और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो भविष्यकाल के प्रति आ—मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है।

इस विराट् विश्व में इतने अधिक पदार्थ हैं, जिनकी परिगणना करना सम्भव नहीं। और उन सब वस्तुओं को एक ही व्यक्ति भोगे, यह भी कभी सम्भव नहीं। चाहे कितनी भी लम्बी उम्र क्यों न हो, तथापि एक मानव संसार की सभी वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकता। मानव की इच्छाएं असीम हैं। वह सभी वस्तुओं को पाना चाहता है। चक्रवर्ती सम्राट् को सभी वस्तुएं प्राप्त हो जाएं तो भी उसकी इच्छाओं का अन्त नहीं आ सकता। इच्छाएं दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती रहती हैं। इच्छाओं के कारण मानव के अन्तर्मानस में सदा अशान्ति बनी रहती है। उस अशान्ति को नष्ट करने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान में साधक अशान्ति का मूल कारण आसक्ति और तृष्णा को नष्ट करता है। जब तक आसक्ति बनी रहती है तब तक शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है किन्तु पुनः आसक्ति रूपी तस्करराज अन्तर्मानस में प्रविष्ट न हो, उसके लिये प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। एक बार वस्त्र को स्वच्छ बना दिया गया, वह पुनः मलिन न हो, इसके लिये उस वस्त्र को कपाट में रखते हैं, इसी तरह मन में मलिनता न आये, इसलिये प्रत्याख्यान किया जाता है। अनुयोगद्वार में प्रत्याख्यान का एक नाम 'गुणधारण' दिया गया है। गुणधारण से तात्पर्य है—व्रत रूपी गुणों को धारण करना। मन, वचन और काया के योगों को रोककर शुभ योगों में प्रवृत्ति को केन्द्रित किया जाता है। शुभ योगों में केन्द्रित करने से इच्छाओं का निरुन्धन होता है। तृष्णाएं शान्त हो जाती हैं। अनेक सद्गुणों की उपलब्धि होती है। एतदर्थ ही आचार्य भद्रबाहु ने कहा—प्रत्याख्यान से संयम होता है। संयम से आश्रव का निरुन्धन होता है और आश्रव के निरुन्धन से तृष्णा का अन्त हो जाता है।[१०६] तृष्णा के अन्त से अनुपम उपशमभाव समुत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है।[१०७] उपशमभाव की विशुद्धि से चारित्रधर्म प्रकट होता है। चारित्र से कर्म निजीर्ण होते हैं। उससे

---

१०४. प्रवृत्तिप्रतिकूलतया आ-मर्यादया ख्यानं—प्रत्याख्यानम्।

—योगशास्त्रवृत्ति

१०५. अविरतिस्वरूपप्रभृति प्रतिकूलतया आ-मर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं—कथनं प्रत्याख्यानम्।

—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

१०६. पच्चक्खाणंमि कए, आसवदाराइं हुंति पिहियाइं।
आसववुच्छेएणं तण्हा-वुच्छेयणं होइ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १५९४

१०७. तण्हा-वोच्छेदेण उ, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, १५९५

होने से केवलज्ञान, केवलदर्शन का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है और शाश्वत मुक्ति रूपी सुख प्राप्त होता है।[१०८]

प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद हैं—१. मूलगुण-प्रत्याख्यान और २. उत्तरगुण-प्रत्याख्यान। मूलगुण-प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिये ग्रहण किया जाता है। मूलगुणप्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—१. सर्वमूलगुण-प्रत्याख्यान और २. देशमूलगुणप्रत्याख्यान। सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान में श्रमण के पांच महाव्रत आते हैं और देशमूलगुणप्रत्याख्यान में श्रमणोपासक के पांच अणुव्रत आते हैं। उत्तरगुणप्रत्याख्यान प्रतिदिन ग्रहण किया जाता है या कुछ दिनों के लिये। उत्तरगुणप्रत्याख्यान के भी देश उत्तरगुणप्रत्याख्यान और सर्व उत्तरगुणप्रत्याख्यान ये दो भेद हैं। गृहस्थों के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये सात उत्तरगुणप्रत्याख्यान हैं। श्रमणों और श्रमणोपासक दोनों के लिये दस प्रकार के प्रत्याख्यान हैं। भगवतीसूत्र,[१०९] स्थानांगवृत्ति,[११०] आवश्यक-निर्युक्ति[१११] और मूलाचार[११२] में दस प्रत्याख्यानों का वर्णन है। जिसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

१. अनागत—पर्युषण आदि पर्व में जो तप करना चाहिये, वह तप पहले कर लेना जिससे कि पर्व के समय वृद्ध, रुग्ण, तपस्वी, आदि की सेवा सहज रूप से की जा सके। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी ने लिखा है—चतुर्दशी को किया जाने वाला तप त्रयोदशी को करना।

२. अतिक्रान्त—जो तप पर्व के दिनों में करना चाहिये, वह तप पर्व के दिनों में सेवा आदि का प्रसंग उपस्थित होने से न कर सके तो उसे बाद में अपर्व के दिनों में करना चाहिये। वसुनन्दी के अनुसार चतुर्दशी को किया जाने वाला उपवास प्रतिपदा को करना।

३. कोटि सहित—जो पूर्व तप चल रहा हो, उस तप को बिना पूर्ण किये ही अगला तप प्रारम्भ कर देना। जैसे—उपवास का पारणा किये बिना ही अगला तप प्रारम्भ करना। आचार्य अभयदेव ने भी स्थानांग-वृत्ति में यही अर्थ किया है। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में कोटि सहित प्रत्याख्यान का अर्थ लिखा है कि शक्ति की अपेक्षा उपवास आदि करने का संकल्प करना। वसुनन्दी के अनुसार यह संकल्प समन्वित प्रत्याख्यान है। जैसे—अगले दिन स्वाध्याय वेला पूर्ण होने पर यदि शक्ति रही तो मैं उपवास करूंगा, अन्यथा नहीं करूंगा।

४. नियन्त्रित—जिस दिन प्रत्याख्यान करने का विचार हो उस दिन रोग आदि विशेष बाधाएं उपस्थित हो जायें तो भी उन बाधाओं की परवाह किये बिना जो मन में प्रत्याख्यान धारण किया है, वह प्रत्याख्यान कर लेना। मूलाचार में इसका नाम विखण्डित है, पर दोनों में अर्थभेद नहीं है। प्रस्तुत प्रत्याख्यान चतुर्दश पूर्वधारी जिनकल्पी श्रमण, दश पूर्वधारी श्रमण के लिये है, क्योंकि उनका संकल्पबल इतना सुदृढ होता है कि किसी भी प्रकार की कोई भी बाधा उनको निश्चय से विचलित नहीं कर सकती। जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद हो गया है, इसलिये यह प्रत्याख्यान भी वर्तमान में नहीं है।

---

१०८. तत्तो चरित्तधम्मो, कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु।
तत्तो केवलनाणं, तओ य मुक्खो सयासुक्खो॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, १५९६

१०९. भगवतीसूत्र ७।२

११०. स्थानांगवृत्ति पत्र ४७२-४७३

१११. आवश्यकनिर्युक्ति, अध्ययन ६

११२. मूलाचार, षट्आवश्यक अधिकार, गाथा १४०-१४१

५. साकार—प्रत्याख्यान करते समय साधक मन में विशेष आकार की कल्पना करता है—यदि इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगी तो मैं इसका त्याग करता हूँ। दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि मन में अपवाद की कल्पना करके जो त्याग किया जाता है, वह साकार प्रत्याख्यान है।

६. निराकार—यह प्रत्याख्यान किसी प्रकार का अपवाद रखे विना किया जाता है। इस प्रत्याख्यान में दृढ मनोबल की अपेक्षा होती है। आचार्य अभयदेव ने पांचवें, छठे प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में लिखा है कि साकार प्रत्याख्यान में सभी प्रकार के अपवाद व्यवहार में लाये जा सकते हैं—पर अनाकार प्रत्याख्यान में महत्तर की आज्ञा आदि अपवाद भी व्यवहार में नहीं लाये जा सकते, तथापि अनाभोग और सहसाकार की छूट इनमें भी रहती है। वसुनन्दी ने आकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अमुक नक्षत्र में अमुक तपस्या करनी है। नक्षत्र आदि के भेद के आधार पर लम्बे समय की तपस्या करना साकार प्रत्याख्यान है। नक्षत्र आदि का विचार किये विना स्वेच्छा से उपवास आदि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७. परिमाणव्रत—श्रमण भिक्षा के लिये जाते समय या आहार ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मैं आज इतना ही ग्रास ग्रहण करूंगा। अथवा भोजन लेने के लिये गृहस्थ के यहाँ जाते समय मन में यह विचार करना कि अमुक प्रकार का आहार प्राप्त होगा तो ही मैं ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। जैसे भिक्षुप्रतिमाधारी श्रमण दत्ति आदि का परिमाण करके ही आहार लेते हैं। मूलाचार में परिमाणकृत के स्थान पर परिमाणगत शब्द आया है।

८. नीरवशेष—अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार का पूर्ण रूप से परित्याग करना। वसुनन्दी श्रमण का यह अभिमत है कि यह प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिये होता है। पर श्वेताम्बर आगम साहित्य में इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं है।

९. सांकेतिक—जो प्रत्याख्यान संकेतपूर्वक किया जाये, वह सांकेतिक प्रत्याख्यान है। जैसे मुट्ठी बांधकर या किसी वस्त्र में गांठ लगाकर—जब तक मैं मुट्ठी या गांठ नहीं खोलूंगा, तब तक कोई भी वस्तु मुख में नहीं डालूंगा। जिस प्रत्याख्यान में साधक अपनी सुविधा के अनुसार प्रत्याख्यान करता है, वह सांकेतिक प्रत्याख्यान कहलाता है। मूलाचार में इसका नाम अद्धानगत है। वसुनन्दी श्रमण ने अद्धानगत प्रत्याख्यान का अर्थ मार्गविषयक प्रत्याख्यान किया है। यह अटवी, नदी आदि को पार करते समय उपवास करने की पद्धति का सूचक है। सहेतुक प्रत्याख्यान का अर्थ है—उपसर्ग आदि आने पर किया जाने वाला उपवास।

१०. अद्धा—समय विशेष की मर्यादा निश्चित करके प्रत्याख्यान करना। इस प्रत्याख्यान के अन्तर्गत (नमोक्कार सहित) नवकारसी, पोरसी, पूर्वार्द्ध, एकाशन, एकस्थान, आचाम्ल, उपवास, दिवसचरिम, अभिग्रह, निर्विकृतिक, ये दस प्रत्याख्यान आते हैं। अद्धा का अर्थ काल है। आचार्य अभयदेव ने अद्धा का अर्थ पोरसी आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान किया है।

प्रत्याख्यान में आत्मा मन, वचन और काया की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोककर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। आश्रव का निरुन्धन होने से साधक पूर्ण निस्पृह हो जाता है, जिससे उसे शान्ति उपलब्ध होती है। प्रत्याख्यान में साधक जिन पदार्थों को ग्रहण करने की छूट रखता है, उन पदार्थों को भी ग्रहण करते समय आसक्त नहीं होता। प्रत्याख्यान से साधक के जीवन में अनासक्ति की विशेष जागृति होती है।

साधना के क्षेत्र में प्रत्याख्यान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। प्रत्याख्यान में किसी भी प्रकार का दोष न

लगे, इसके लिये साधक को सतत जागरूक रहना चाहिये। इसीलिये आवश्यक में छह प्रकार की विशुद्धि का उल्लेख है। ये विशुद्धियाँ निम्नानुसार हैं—

१. श्रद्धानविशुद्धि—पंच महाव्रत, बारह व्रत आदि रूप जो प्रत्याख्यान है, उसका श्रद्धा के साथ पालन करना।

२. ज्ञानविशुद्धि—जिनकल्प, स्थविरकल्प, मूलगुण, उत्तरगुण आदि जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप है, उस स्वरूप को समीचीन रूप से जानना।

३. विनयविशुद्धि—मन, वचन और काया सहित प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान में जितनी वन्दनाओं का विधान है, उतनी वन्दना अवश्य करनी चाहिये।

४. अनुभाषणाशुद्धि—प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय सद्गुरु के सम्मुख विनय मुद्रा में खड़े रहकर शुद्ध पाठ का उच्चारण करे।

५. अनुपालनाशुद्धि—भयंकर वन में या दुर्भिक्ष आदि में या रुग्ण अवस्था में व्रत का उत्साह के साथ सम्यक् प्रकार से पालन करे।

६. भावविशुद्धि—राग-द्वेष रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान का पाठ करना।

आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है कि प्रत्याख्यान में तीन प्रकार के दोष लगने की सम्भावना रहती है। अतः साधक को उन दोषों से बचना चाहिये। वे दोष इस प्रकार हैं—

१. अमुक व्यक्ति ने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, जिसके कारण उसका समाज में आदर हो रहा है। मैं भी इसी प्रकार का प्रत्याख्यान करूं, जिससे मेरा आदर हो। ऐसी राग भावना को लेकर प्रत्याख्यान करना।

२. मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूँ जिसके कारण जिन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, उनकी कीर्ति-कौमुदी धुंधली हो जाये। इस प्रकार दूसरों के प्रति दुर्भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इस प्रकार के प्रत्याख्यान में तीव्र द्वेष प्रकट होता है।

३. इस लोक में मुझे यश प्राप्त होगा और परलोक में भी मेरे जीवन में सुख और शान्ति की वंशी बजेगी, इस भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इसमें यश की अभिलाषा, वैभवप्राप्ति की कामना आदि रही हुई है।

शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—गुरुदेव ! किस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है और किस साधक का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है ?

भगवान् ने समाधान दिया—जिस साधक को जीव-अजीव का परिज्ञान है, प्रत्याख्यान किस उद्देश्य से किया जा रहा है, इसकी पूर्ण जानकारी है, उस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। जिस साधक को जीव-अजीव का परिज्ञान नहीं है, जो अज्ञान की प्रधानता के कारण प्रत्याख्यान करता हुआ भी प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। अतः ऐसा प्रत्याख्यान करने वाला असंयत है, अविरत है और एकान्त बाल है।[११३]

---

११३. एवं खलु से दुप्पच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणो नो सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ……। —भगवती ८।२

प्रवचनसारोद्धार,[114] योगशास्त्र[115] आदि ग्रन्थों में प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले साधक और ग्रहण कराने वाले साधक की योग्यता और अयोग्यता को लक्ष्य में रखकर चतुर्भंगी का प्रतिपादन किया है—

१. प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी विवेकी हो और प्रत्याख्यानप्रदाता गुरु भी गीतार्थ हो तो वह पूर्ण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

२. प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के रहस्य को नहीं जानता पर प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को जानता है और वह प्रत्याख्यान करने वाले शिष्य को प्रत्याख्यान का मर्म सम्यक् प्रकार से समझा देता है तो शिष्य का प्रत्याख्यान सही प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि वह उसके मर्म को नहीं समझता है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

३. प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता है किन्तु जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रहा है, वह प्रत्याख्यान के रहस्य को जानता है, तो वह प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है। यदि प्रत्याख्यान-ज्ञाता गुरु विद्यमान हों, उनकी उपस्थिति में भी परम्परा आदि की दृष्टि से अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण करना अनुचित है।

४. प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता और जिससे प्रत्याख्यान ग्रहण करना है, वह भी प्रत्याख्यान के रहस्य से अनभिज्ञ है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

षडावश्यक में प्रत्याख्यान सुमेरु के स्थान पर है। प्रत्याख्यान से भविष्य में आने वाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती हैं और साधक नियमों-उपनियमों का सम्यक् पालन करता है। उत्तराध्ययन में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए निम्न प्रकार बताये हैं—

१. संभोग-प्रत्याख्यान[116]—श्रमणों द्वारा लाये हुए आहार को एक स्थान पर मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का परित्याग करना। इससे जीव स्वावलम्बी होता है और अपने द्वारा प्राप्त लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है।

२. उपधि-प्रत्याख्यान[117]—वस्त्र आदि उपकरणों का त्याग करना। इससे स्वाध्याय आदि करने में विघ्न उपस्थित नहीं होता। आकांक्षा रहित होने से वस्त्र आदि मांगने की और उनकी रक्षा करने की उसे इच्छा नहीं होती तथा मन में संक्लेश भी नहीं होता।

३. आहार-प्रत्याख्यान[118]—आहार का परित्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नहीं रहता। निर्ममत्व होने से आहार के अभाव में भी उसे किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती।

४. योग-प्रत्याख्यान[119]—मन, वचन और काय सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकना योग-प्रत्याख्यान है। यह

---

११४. जाणगो जाणगसगासे, अजाणगो जाणगसगासे, जाणगो अजाणगसगासे, अजाणगो अजाणगसगासे।

—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

११५. योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति

११६. उत्तराध्ययन २९।३३

११७ उत्तराध्ययन २९।३४

११८. उत्तराध्यन २९।३५

११९. उत्तराध्ययन २९।३७

चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है। ऐसा साधक नूतन कर्मों का बन्ध नहीं करता वरन् पूर्वसंचित कर्मों को क्षय करता है।

५. सद्भाव-प्रत्याख्यान[१२०]—सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का परित्याग कर वीतराग अवस्था को प्राप्त करना। इससे जीव सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त हो जाता है।

६. शरीर-प्रत्याख्यान[१२१]—इससे अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

७. सहाय-प्रत्याख्यान[१२२]—अपने कार्य में किसी का भी सहयोग न लेना। इससे जीव एकत्वभाव को प्राप्त करता है। एकत्वभाव प्राप्त होने से वह शब्दविहीन, कलहविहीन, संयमबहुल तथा समाधिबहुल हो जाता है।

८. कषाय-प्रत्याख्यान[१२३]—सामान्य रूप से कषाय को संयमी साधक जीतता ही है, जिससे साधक कर्मों का बन्ध नहीं करता। कषायों पर विजय प्राप्त करने से उसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों के प्रति ममत्व या द्वेष नहीं होता। इस प्रकार उत्तराध्ययन में प्रत्याख्यानों के प्रकार व उसके फल निरूपित किये हैं। प्रत्याख्यान से भविष्य में होने वाले पापकृत्य रुक जाते हैं और साधक का जीवन संयम के सुहावने आलोक से जगमगाने लगता है।

इस प्रकार षडावश्यक साधक के लिये अवश्य करणीय हैं। साधक चाहे श्रावक हो अथवा श्रमण, वह इन क्रियाओं को करता ही है। हाँ, इन दोनों की गहराई और अनुभूति में तीव्रता, मंदता हो सकती है और होती है। श्रावक की अपेक्षा श्रमण इन क्रियाओं को अधिक तल्लीनता के साथ कर सकता है क्योंकि वह संसार-त्यागी है, आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा विरत है। इसी कारण उसकी साधना में श्रावक की अपेक्षा अधिक तेजस्विता होती है। षडावश्यकों का साधक के जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आवश्यक से जहाँ आध्यात्मिक शुद्धि होती है, वहाँ लौकिक जीवन में भी समता, नम्रता, क्षमाभाव आदि सद्गुणों की वृद्धि होने से आनन्द के निर्मल निर्झर बहने लगते हैं।

व्याख्यासाहित्य

आवश्यकसूत्र एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि उस पर सबसे अधिक व्याख्याएँ लिखी गयी हैं। इसके मुख्य व्याख्याग्रन्थ ये हैं—

निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, स्तवक (टब्बा) और हिन्दी विवेचन।

आगमों पर दस निर्युक्तियां प्राप्त हैं। उन दस निर्युक्तियों में प्रथम निर्युक्ति का नाम आवश्यकनिर्युक्ति है। आवश्यकनिर्युक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। उसके पश्चात् की निर्युक्तियों में उन विषयों की चर्चाएं न कर आवश्यकनिर्युक्ति को देखने का संकेत किया गया है। अन्य निर्युक्तियों को समझने के लिये आवश्यकनिर्युक्ति को समझना आवश्यक है। इसमें सर्वप्रथम उपोद्घात है, जो भूमिका के रूप में हैं। उसमें ८८० गाथाएं हैं। प्रथम पाँच ज्ञानों का विस्तार से निरूपण है।

---

१२०. उत्तराध्ययन २९।४१

१२१. उत्तराध्ययन २९।३८

१२२. उत्तराध्ययन २९।३९

१२३. उत्तराध्ययन २९।३६

ज्ञान के वर्णन के पश्चात् निर्युक्ति में षडावश्यक का निरूपण है। उसमें सर्वप्रथम सामायिक है। चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है। मुक्ति के लिये ज्ञान और चारित्र ये दोनों आवश्यक हैं। सामायिक का अधिकारी श्रुतज्ञानी होता है। वह क्षय, उपशम, क्षयोपशम कर केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करता है। सामायिकश्रुत का अधिकारी ही तीर्थंकर जैसे गौरवशाली पद को प्राप्त करता है। तीर्थंकर केवलज्ञान होने के पश्चात् जिस श्रुत का उपदेश करते हैं—वही जिनप्रवचन हैं। उस पर विस्तार से चिन्तन करने के पश्चात् सामायिक पर उद्देश्य, निर्देश, निर्गम आदि २६ बातों के द्वारा विवेचन किया गया है। मिथ्यात्व का निर्गमन किस प्रकार किया जाता है, इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए निर्युक्तिकार ने महावीर के पूर्व भवों का वर्णन, उसमें कुलकरों की चर्या, भगवान् ऋषभदेव का जीवन-परिचय आदि विस्तृत रूप से दिया है। निह्नवों का भी निरूपण है।

नय दृष्टि से सामायिक पर चिन्तन करने के पश्चात् सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र—ये तीन सामायिक के भेद किये गये हैं। जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में रमण करती है, जिसके अन्तर्मानस में प्राणिमात्र के प्रति समभाव का समुद्र ठाठें मारता है—वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। सामायिकसूत्र के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र आता है। इसलिये नमस्कार मंत्र की उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल—इन ग्यारह दृष्टियों से नमस्कार महामंत्र पर चिन्तन किया गया है जो साधक के लिये बहुत ही उपयोगी है। (सर्वविरति) सामायिक में तीन करण और तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का त्याग होता है।

दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव का है। इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह निक्षेपों की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्ययन वन्दना का है। चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म, ये वन्दना के पर्यायवाची हैं। वन्दना किसे करनी चाहिये ? किसके द्वारा होनी चाहिये ? कब होनी चाहिये ? कितनी बार होनी चाहिये ? कितनी बार सिर झुकना चाहिये ? कितने आवश्यकों से शुद्धि होनी चाहिये ? कितने दोषों से मुक्ति होनी चाहिये ? वन्दना किसलिये करनी चाहिये ? प्रभृति नौ बातों पर विचार किया गया है। वही श्रमण वन्दनीय है जिसका आचार उत्कृष्ट है और विचार निर्मल है। जिस समय वह प्रशान्त, आश्वस्त और उपशान्त हो, उसी समय वन्दना करनी चाहिये।

चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रतिक्रमण है। प्रमाद के कारण आत्मभाव से जो आत्मा मिथ्यात्व आदि परस्थान में जाता है, उसका पुनः अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि—ये प्रतिक्रमण के पर्यायवाची हैं। इनके अर्थ को समझाने के लिये निर्युक्ति में अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं। नागदत्त आदि की कथाएँ दी गई हैं। इसके पश्चात् आलोचना, निरपलाप, आपत्ति, दृढधर्मता आदि ३२ योगों का संग्रह किया गया है और उन्हें समझाने के लिये महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त वारत्तक, वैद्य धनवन्तरि, करकण्डु, आर्य पुष्पभूति आदि के उदाहरण भी दिये गये हैं। साथ ही स्वाध्याय-अस्वाध्याय के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है।

पाँचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग का निरूपण है। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग ये एकार्थवाची हैं। कुछ दोष आलोचना से ठीक होते हैं तो कुछ दोष प्रतिक्रमण से और कुछ दोष कायोत्सर्ग से ठीक होते हैं। कायोत्सर्ग से देह और बुद्धि की जड़ता मिटती है। सुख-दुःख को सहन करने की क्षमता समुत्पन्न होती है। उसमें अनित्य,

अशरण आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन होता है। मन की चंचलता नष्ट होकर शुभ ध्यान का अभ्यास निरन्तर बढ़ता है। निर्युक्तिकार ने शुभ ध्यान पर चिन्तन करते हुए कहा है कि अन्तर्मुहूर्त तक जो चित्त की एकाग्रता है, वही ध्यान है। उस ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल—ये चार प्रकार बताये हैं। प्रथम दो ध्यान संसार-अभिवृद्धि के हेतु होने से उन्हें अपध्यान कहा है और अन्तिम दो ध्यान मोक्ष का कारण होने से प्रशस्त हैं। ध्यान और कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जानकारी दी गई है जो ज्ञानवर्द्धक है। श्रमण को अपने सामर्थ्य के अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये। शक्ति से अधिक समय तक कायोत्सर्ग करने से अनेक प्रकार के दोष समुत्पन्न हो सकते हैं। कायोत्सर्ग के समय कपटपूर्वक निद्रा लेना, सूत्र और अर्थ की प्रतिपृच्छा करना, कांटा निकालना, लघुशंका आदि करने के लिये चले जाना उचित नहीं है। इससे उस कार्य के प्रति उपेक्षा प्रकट होती है। कायोत्सर्ग के घोटक आदि १९ दोष भी बताए हैं। जो देहबुद्धि से परे है, वही व्यक्ति कायोत्सर्ग का सच्चा अधिकारी है।

छट्ठे अध्ययन प्रत्याख्यान का प्रत्याख्यान, प्रत्याख्याता, प्रत्याख्येय, पर्षद, कथनविधि और फल, इन छह दृष्टियों से विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा, प्रतिषेध और भाव, ये छह प्रकार हैं। प्रत्याख्यान की विशुद्धि श्रद्धा, ज्ञान, विनय, अनुभाषणा, अनुपालन और भाव—इन छह प्रकार से होती है। प्रत्याख्यान से आश्रव का निरुन्धन होता है। समता की सरिता में अवगाहन किया जाता है। चारित्र की आराधना करने से कर्मों की निर्जरा होती है। अपूर्वकरण कर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त होता है और अन्त में मोक्ष का अव्याबाध सुख मिलता है। प्रत्याख्यान का अधिकारी वही साधक है जो विक्षिप्त और अविनीत न हो।

आवश्यकनिर्युक्ति में श्रमण जीवन को तेजस्वी-वर्चस्वी बनाने वाले जितने भी नियमोपनियम हैं, उन सबकी चर्चा विस्तार से की गई है। प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन भी इस निर्युक्ति में हुआ है। प्रस्तुत निर्युक्ति के रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। इतिहासविज्ञों का अभिमत है कि जैन इतिहास में भद्रबाहु नामक अनेक आचार्य हुए हैं, उनमें एक चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य भद्रबाहु नेपाल में महाप्राणायाम नामक योग की साधना करने गए थे, वे श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से छेदसूत्रकार थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वे भद्रबाहु नेपाल न जाकर दक्षिण में गए थे। पर हमारी दृष्टि से ये दोनों भद्रबाहु एक न होकर पृथक्-पृथक् रहे होंगे। क्योंकि जो नेपाल गये थे वे दक्षिण में नहीं गए हैं और जो दक्षिण में गए थे वे नेपाल नहीं गए थे। निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर भ्राता थे। उनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। आगमप्रभाकर पुण्यविजयजी का मन्तव्य है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियां प्रारम्भ कीं और द्वितीय भद्रबाहु तक उन निर्युक्तियों में विकास होता रहा। इस प्रकार निर्युक्तियों में कुछ गाथाएं बहुत ही प्राचीन हैं तो कुछ अर्वाचीन हैं। वर्तमान में जो निर्युक्तियां हैं, वे चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के द्वारा पूर्ण रूप से रचित नहीं हैं। क्योंकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। हमारे अभिमतानुसार समवायांग, स्थानांग एवं नन्दी में जहाँ पर द्वादशांगी का परिचय प्रदान किया गया है, वहाँ पर 'संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' यह पाठ प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि निर्युक्तियों की परम्परा आगम काल में भी थी। प्रत्येक आचार्य या उपाध्याय अपने शिष्यों को आगम का रहस्य हृदयंगम कराने के लिये अपनी-अपनी दृष्टि से निर्युक्तियों की रचना करते रहे होंगे। जैसे वर्तमान प्रोफेसर विद्यार्थियों को नोट्स लिखवाते हैं, वैसे ही निर्युक्तियां रही होंगी। उन्हीं को मूल आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों को अन्तिम रूप दिया होगा।

निर्युक्तियों के पश्चात् भाष्य साहित्य लिखा गया । निर्युक्तियों की व्याख्याशैली बहुत ही गूढ और संक्षिप्त थी । उनमें विषय विस्तार का अभाव था । उसका मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था । निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिये विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएं लिखी गईं, वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं । निर्युक्तियों के शब्दों में छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का श्रेय भाष्यकारों को है । भाष्य में अनेक स्थलों पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं । मुख्य छन्द आर्या है । भाष्य साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियों, लौकिक कथाओं और परम्परागत श्रमणों के आचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन है ।

भाष्य

भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम जैन इतिहास में गौरव के साथ उट्टंकित है । आवश्यकसूत्र पर उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की । आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं—१. मूलभाष्य २. भाष्य और ३. विशेषावश्यकभाष्य । पहले के दो भाष्य बहुत ही संक्षेप में लिखे गये हैं । उनकी बहुत सी गाथाएं विशेषावश्यकभाष्य में मिल गई हैं । इसलिये विशेषावश्यकभाष्य दोनों भाष्यों का भी प्रतिनिधित्व करता है । यह भाष्य केवल प्रथम अध्ययन सामायिक पर है । इसमें ३६०३ गाथाएं हैं ।

प्रस्तुत भाष्य में जैनागमसाहित्य में वर्णित जितने भी महत्त्वपूर्ण विषय हैं, प्रायः उन सभी पर चिन्तन किया है । ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद पर विशद सामग्री का आकलन-संकलन है । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैन दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ की गई है । इसमें जैन आगमसाहित्य की मान्यताओं का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है । आगम के गहन रहस्यों को समझने के लिए यह भाष्य बहुत ही उपयोगी है और इसी भाष्य का अनुसरण परवर्ती विज्ञों ने किया है । सर्वप्रथम प्रवचन को नमस्कार किया है, उसके पश्चात् लिखा है कि ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष प्राप्त होता है । आवश्यक स्वयं ज्ञान-क्रियामय है । उसी से सिद्धि सम्प्राप्त होती है । जैसे कुशल वैद्य बालक के लिये योग्य आहार की अनुमति देता है, वैसे ही भगवान् ने साधकों के लिये आवश्यक की अनुमति प्रदान की है । श्रेष्ठ कार्य में विविध प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं । उनकी शान्ति के लिये मंगल का विधान है । ग्रन्थ में मंगल तीन स्थानों पर होता है । मंगल शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है । ज्ञान भावमंगल है । अतः ज्ञान के पांचों भेदों का बहुत विस्तार के साथ निरूपण है ।

आवश्यक पर नाम आदि निक्षेपों से चिन्तन किया गया है । द्रव्य-आवश्यक, आगम और नो-आगम रूप दो प्रकार का है । अधिकाक्षर पाठ के लिये राजपुत्र कुणाल का उदाहरण दिया है । हीनाक्षर पाठ के लिये विद्याधर का उदाहरण दिया है । उभय के लिये बाल का उदाहरण दिया है और आतुर के लिये अतिमात्रा में भोजन और भेषज विपर्यय के उदाहरण दिये हैं । लोकोत्तर नोआगम रूप द्रव्यावश्यक के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये साध्वाभास का दृष्टान्त देकर समझाया है । भाव-आवश्यक भी आगम रूप और नोआगम रूप दो प्रकार का है । आवश्यक के अर्थ का जो उपयोग रूप परिणाम है वह आगम रूप भाव-आवश्यक है । ज्ञान-क्रिया उभय रूप जो परिणाम हैं, वह नोआगम रूप भाव-आवश्यक है । षडावश्यक के पर्याय और उसके अर्थाधिकार पर विचार किया गया है ।

सामायिक पर चिन्तन करते हुए कहा है—समभाव ही सामायिक का लक्षण है । सभी द्रव्यों का आधार आकाश है, वैसे ही सभी सद्गुणों का आधार सामायिक है । सामायिक के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भेद

हैं। किसी महानगर में प्रवेश करने के लिये अनेक द्वार होते हैं, वैसे ही सामायिक अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय—ये चार द्वार हैं। इन चारों द्वारों का विस्तार से निरूपण किया गया है। सामायिकश्रुत का सार सामायिक है। चारित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। ज्ञान से वस्तु का यथार्थ परिज्ञान होने से चारित्र की विशुद्धि होती है। केवलज्ञान होने पर भी जीव मुक्त नहीं होता। जब तक उसे सर्व संवर का लाभ न हो जाये। सामायिक का लाभ जीव को कब उपलब्ध होता है? इस पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि आठों कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितियों के रहते हुए जीव को सामायिक का लाभ नहीं हो सकता। नाम, गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा-कोटि सागरोपम है। मोहनीय की सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की तीस कोटा-कोटि सागरोपम है। आयुकर्म की तेतीस सागरोपम है। मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बंधती है, किन्तु आयुकर्म की स्थिति के लिये निश्चित नियम नहीं है। वह उत्कृष्ट और मध्यम और जघन्य तीनों प्रकार की स्थिति बन्ध सकती है। मोहनीय के अतिरिक्त ज्ञानावरण आदि किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर मोहनीय या अन्य कर्म की उत्कृष्ट या मध्यम स्थिति का बन्ध होता है किन्तु आयुकर्म की स्थिति जघन्य भी बंध सकती है। सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत और सर्वव्रत-इन चार सामायिकों में से जिसने उत्कृष्ट कर्म-स्थिति का बन्ध किया है, वह एक भी सामायिक को प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु उसे पूर्वप्रतिपन्न विकल्प से होती भी है और नहीं भी होती। जैसे अनुत्तरविमानवासी देव में पूर्वप्रतिपन्न सम्यक्त्व, श्रुत होते हैं, शेष में नहीं। जिनकी ज्ञानावरण आदि की जघन्य स्थिति है, उनको भी इन चार सामायिकों में से एक का भी लाभ नहीं होता, क्योंकि उसे पहले ही प्राप्त हो गई है। अतः पुनः प्राप्त करने का प्रश्न ही समुपस्थित नहीं होता। आयुकर्म की जघन्य स्थिति वाले को न यह पहले प्राप्त होती है और न वह प्राप्त ही कर सकता है।

इसके पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्ति के कारणों पर चिन्तन करते हुए ग्रन्थि-भेद का स्वरूप स्पष्ट किया है। आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति, देशन्यून कोटा-कोटि सागरोपम की अवशेष रहती है तब आत्मा सम्यक्त्व के अभिमुख होता है। उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उसमें से पल्योपम पृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति—श्रावकत्व की प्राप्ति होती है। उसमें से भी संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर सर्वविरति चारित्र की उपलब्धि होती है। उसमें से संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपशमश्रेणी प्राप्त होती है। उसमें से भी संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है।

कषाय के उदय के कारण दर्शन आदि सामायिक प्राप्त नहीं हो सकती। यदि कदाचित् प्राप्त भी हो गई तो वह पुनः नष्ट हो जाती है। जिससे कर्मों का लाभ हो वह कषाय है। अनन्तानुबन्धी-चतुष्क, अप्रत्याख्यानी-चतुष्क, प्रत्याख्यानी-चतुष्क इन बारह प्रकार के कषायों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से चारित्र की प्राप्ति होती है। सामायिक में सावद्य योग का त्याग होता है। वह इत्वर और यावत्कथिक के रूप में दो प्रकार की है। इत्वर सामायिक अल्पकालीन होती है और यावत्कथिक जीवनपर्यन्त के लिये। भाष्यकार ने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र का विस्तार से विवेचन किया है।

सामायिक चारित्र का उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविध, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन् और निरुक्ति, इन छब्बीस द्वारों से वर्णन किया है। सामायिक सम्बन्धी जितनी भी महत्त्वपूर्ण बातें हैं, वे सभी इन द्वारों में समाविष्ट हो गई हैं। तृतीय निर्गम द्वार में सामायिक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए आचार्य ने भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों की चर्चा की है। सामायिक के ग्यारहवें द्वार समवतार पर विवेचन करते

हुए आचार्य ने चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग के पृथक्करण की चर्चा की है तथा निह्नवों का भी वर्णन है। निह्नववाद पर विस्तार से चर्चा है। अन्त में "करेमि भन्ते" आदि सामायिक सूत्र के मूल पदों पर विचार किया गया है।

जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण की प्रवल तार्किक शक्ति, अभिव्यक्तिकुशलता, प्रतिपादन की पटुता तथा विवेचन की विशिष्टता को निहार कर कौन मेधावी मुग्ध नहीं होगा ? भाष्यसाहित्य में विशेषावश्यकभाष्य का अनूठा स्थान है। विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम रचना है। उन्होंने इस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखनी प्रारम्भ की थी, किन्तु पूर्ण होने से पहले ही उनका आयुष्य पूर्ण हो गया था, जिससे वह वृत्ति अपूर्ण ही रह गई। विज्ञों का अभिमत है कि जिनभद्र गणी का उत्तरकाल विक्रम संवत् ६५० से ६६० के आस-पास होना चाहिये।

चूर्णिसाहित्य

निर्युक्ति और भाष्य की रचना के पश्चात् जैन मनीषियों के अन्तर्मानस में आगमों पर गद्यात्मक व्याख्या साहित्य लिखने की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्याओं की रचना की, जो आज चूर्णिसाहित्य के रूप में विश्रुत है। चूर्णिसाहित्य के निर्माताओं में जिनदासगणि महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। उन्होंने सात चूर्णियां लिखीं। उसमें आवश्यक चूर्णि एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

यह चूर्णि निर्युक्ति के अनुसार लिखी गई है, भाष्य गाथाओं का उपयोग भी यत्र-तत्र हुआ है। मुख्य रूप से भाषा प्राकृत है किन्तु संस्कृत के श्लोक, गद्य व गद्य पंक्तियां भी उद्धृत की गई हैं। भाषा प्रवाहयुक्त है। शैली में लालित्य व ओज है। ऐतिहासिक कथाओं की प्रचुरता है। यह चूर्णि अन्य चूर्णियों से विस्तृत है। ओघनिर्युक्ति चूर्णि, गोविन्दनिर्युक्ति, वसुदेवहिण्डी प्रभृति अनेक ग्रन्थों का उल्लेख इसमें हुआ है। सर्वप्रथम मंगल की चर्चा की गई है। भावमंगल में ज्ञान का निरूपण है। श्रुतज्ञान की दृष्टि से आवश्यक पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। द्रव्यावश्यक और भावावश्यक पर प्रकाश डाला है। श्रुत का प्ररूपण तीर्थंकर करते हैं। तीर्थंकर कौन होते हैं—इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् महावीर का जीव मिथ्यात्व से किस प्रकार मुक्त हुआ, यह प्रतिपादन करने के लिये महावीर के पूर्व भवों चर्चा की गई है। महावीर का जीव मरीचि के भव में ऋषभदेव का पौत्र था। अतः भगवान् ऋषभदेव के पूर्वभव और ऋषभदेव के जीवन पर प्रकाश डाला है। सम्राट् भरत का भी सम्पूर्ण जीवन इसमें आया है। भगवान् महावीर का जीव अनेक भवों के पश्चात् महावीर बना। महावीर के जीवन में जो भी उपसर्ग आये, उसका सविस्तृत निरूपण चूर्णि में हुआ है। निर्युक्ति की तरह निह्नव-वाद का भी निरूपण है। उसके पश्चात् द्रव्य, पर्याय, नयदृष्टि से सामायिक के भेद, उसका स्वामी, उसकी प्राप्ति का क्षेत्र, काल, दिशा, सामायिक करने वाला, उसकी प्राप्ति के हेतु, आनन्द, कामदेव का दृष्टान्त, अनुकम्पा, इन्द्रनाग, पुण्यशाल, शिवराजर्षि गंगदत्त, दशार्णभद्र, इलापुत्र आदि के दृष्टान्त दिये हैं। सामायिक की स्थिति, सामायिक वालों की संख्या, सामायिक का अन्तर, सामायिक का आकर्ष, समभाव की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिये दमदत्त एवं मेतार्य का दृष्टान्त दिया है। समास, संक्षेप और अनवद्य के लिये धर्मरुचि व प्रत्याख्यान के लिये तेतलीपुत्र का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया गया है। इसके पश्चात् सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति की चूर्णि है। उसमें नमस्कार महामन्त्र, निक्षेप दृष्टि से स्नेह, राग व द्वेष के लिये क्रमशः अर्हन्नक, धर्मरुचि तथा जमदग्नि का उदाहरण दिया गया है। अरिहन्तों व सिद्धों को नमस्कार, औत्पत्तिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि, कर्म, समुद्घात, योगनिरोध, सिद्धों का अपूर्व आनन्द, आचार्य उपाध्यायों और साधुओं को

नमस्कार एवं उसके प्रयोजन पर प्रकाश डाला है। उसके बाद सामायिक के पाठ 'करेमि भन्ते' की व्याख्या करके छह प्रकार के कर्म का विस्तृत निरूपण किया गया है।

चतुर्विंशतिस्तव में स्तव, लोक, उद्योत, धर्म-तीर्थंकर आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। तृतीय वन्दना अध्ययन में वन्दन के योग्य श्रमण के स्वरूप का प्रतिपादन किया है और चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजा, कर्म, विनयकर्म को दृष्टान्त देकर समझाया गया है। अवन्द्य को वन्दन करने का निषेध किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन में प्रतिक्रमण की परिभाषा प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण, प्रतिक्रान्तव्य इन तीन दृष्टियों से की गई है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना पर विवेचना करते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक, अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, प्रकाम शय्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगने वाले अतिचार, चार विकथा, चार ध्यान, पांच क्रिया, पांच कामगुण, पांच महाव्रत, पांच समिति आदि का प्रतिपादन किया है। शिक्षा के ग्रहण और आसेवन ये दो भेद किए हैं। अभयकुमार का विस्तार से जीवन-परिचय दिया है। साथ ही सम्राट श्रेणिक, चेल्लणा, सुरसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्मनंद, शकडाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र भी दिये गये हैं। व्रत की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—प्रज्ज्वलित अग्नि में प्रवेश करना श्रेयस्कर है, किन्तु व्रत का भंग करना अनुचित है। विशुद्ध कार्य करते हुए मरना श्रेष्ठ है, किन्तु शील से स्खलित हो कर जीवित रहना अनुचित है।

पञ्चम अध्ययन में कायोत्सर्ग का वर्णन है। कायोत्सर्ग एक प्रकार से आध्यात्मिक व्रणचिकित्सा है। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग ये दो पद हैं। काय का नाम, स्थापना आदि बारह प्रकार के निक्षेपों से वर्णन किया है और उत्सर्ग का छह निक्षेपों से। कायोत्सर्ग के चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग ये दो भेद हैं। गमन आदि में जो दोष लगा हो उसके पाप से निवृत्त होने के लिये चेष्टाकायोत्सर्ग किया जाता है। हूण आदि से पराजित होकर जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह अभिभवकायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के प्रशस्त एवं अप्रशस्त ये दो भेद हैं और फिर उच्छ्रित आदि नौ भेद हैं। श्रुत, सिद्ध की स्तुति पर प्रकाश डालकर क्षामणा की विधि पर विचार किया है। अन्त में कायोत्सर्ग के दोष, फल आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ अध्ययन में प्रत्याख्यान का विवेचन है। इसमें सम्यक्त्व के अतिचार, श्रावक के बारह व्रतों के अतिचार, दस प्रत्याख्यान, छह प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के गुण, आगार आदि पर अनेक दृष्टान्तों के साथ विवेचन किया है।

इस प्रकार आवश्यकचूर्णि जिनदासगणी महत्तर की एक महनीय कृति है। आवश्यकनिर्युक्ति में आये हुए सभी विषयों पर चूर्णि में विस्तार के साथ स्पष्टता की गई है। इसमें अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन उट्टङ्कित किये गये हैं, जिनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

टीकासाहित्य

मूल आगम, निर्युक्ति और भाष्यसाहित्य प्राकृत भाषा में निर्मित हैं। चूर्णिसाहित्य में प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का और गौण रूप से संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् संस्कृतटीका का युग आया। जैन साहित्य में टीका का युग स्वर्णिम युग है। निर्युक्ति में आगमों के शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या है। भाष्यसाहित्य में विस्तार से आगमों के गम्भीर भावों का विवेचन है। चूर्णिसाहित्य में निगूढ़ भावों को लोक-कथाओं के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीकासाहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाकारों ने प्राचीन

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्यों का तो अपनी टीकाओं में प्रयोग किया ही है साथ ही नये-नये हेतुओं द्वारा विषय को और अधिक पुष्ट बनाया है। टीकाओं के अध्ययन और परिशीलन से उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। टीकाकारों में सर्वप्रथम टीकाकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। उन्होंने अपने विशेषावश्यकभाष्य पर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी पर यह वृत्ति वे अपने जीवनकाल में पूर्ण नहीं कर सके। वे छठे गणधर व्यक्त तक ही टीका लिख सके। उनकी शैली सरल, सरस और प्रसादगुण युक्त थी। उनकी प्रस्तुत टीका उनके पश्चात् कोट्याचार्य ने पूर्ण की। इसका संकेत कोट्याचार्य ने छठे गणधरवाद के अन्त में दिया है।

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका सत्ता-समय विक्रम संवत् ७५७ से ८२७ का है। उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति पर भी वृत्ति लिखी किन्तु आवश्यकचूर्णि के पदों का उसमें अनुसरण न करके स्वतन्त्र रूप से विषय का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत वृत्ति को देखकर विज्ञों ने यह अनुमान किया है कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकसूत्र पर दो वृत्तियां लिखी थीं। वर्तमान में जो टीका उपलब्ध नहीं है, वह टीका उपलब्ध टीका से बड़ी थी। क्योंकि आचार्य ने स्वयं लिखा है—'व्यासार्थस्तु विशेषविवरणादवगन्तव्य इति।' अन्वेषणा करने पर भी यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। वृत्ति में ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आभिनिवोधिक ज्ञान का छह दृष्टियों से विवेचन किया है। श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान का भी भेद आदि की दृष्टि से विवेचन किया है।

सामायिक आदि के तेवीस द्वारों का विवेचन निर्युक्ति के अनुसार किया गया है। सामायिक के निर्गम द्वार में कुलकरों के प्रति और उनके पूर्व भवों के सम्बन्ध में सूचन किया है। निर्युक्ति और चूर्णि में जिन विषयों का संक्षेप में संकेत किया गया है उन्हीं का इसमें विस्तार किया गया है। ध्यान के प्रसंग में ध्यानशतक की समस्त गाथाओं पर भी विवेचन किया है। परिस्थापनाविधि पर प्रकाश डालते हुए सम्पूर्ण परिस्थापना सम्बन्धी निर्युक्ति के पाठ को उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत वृत्ति में प्राकृत भाषा में दृष्टान्त भी विषय को स्पष्ट करने के लिये दिये गये हैं। इस वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इसका ग्रन्थमान २२००० श्लोकप्रमाण है। लेखक ने अन्त में अपना संक्षेप में परिचय भी दिया है।

कोट्याचार्य ने आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अपूर्ण स्वोपज्ञ भाष्य को पूर्ण किया और विशेषावश्यक-भाष्य पर भी एक नवीन वृत्ति लिखी। पर लेखक ने उस वृत्ति में आचार्य हरिभद्र का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि वे हरिभद्र के समकालीन या पूर्ववर्ती होंगे। कोट्याचार्य ने जिन-भद्रगणी क्षमाश्रमण का श्रद्धास्निग्ध स्मरण किया है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति में कोट्याचार्य का प्राचीन टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है। प्रभावक चरित्रकार ने आचार्य शीलाङ्क को और कोट्याचार्य को एक माना है। परन्तु शीलाङ्क और कोट्याचार्य दोनों के समय एक नहीं हैं। कोट्याचार्य का समय विक्रम की आठवीं शती है तो शीलाङ्क का समय विक्रम की नौवीं दशमी शती है। अतः वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं। कोट्याचार्य का प्रस्तुत विशेषावश्यकभाष्य पर जो विवरण है वह न तो अतिसंक्षिप्त है और न अतिविस्तृत ही है। विवरण में जो कथाएं उट्टंकित की गई हैं, वे प्राकृत भाषा में हैं। विवरण का ग्रन्थमान १३७०० श्लोक प्रमाण है।

आचार्य मलयगिरि उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी मूर्धन्य मनीषी थे। उन्होंने आगमग्रन्थों पर बहुत ही महत्त्व-पूर्ण टीकाएं लिखी हैं। उन टीकाओं में उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्रांजलता, शैली का लालित्य एवं विश्लेषण की स्पष्टता उनकी विशेषताएँ हैं। वे आगमसाहित्य के

गम्भीर ज्ञाता थे तो गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र और कर्मसिद्धान्त में भी निष्णात थे। उन्होंने अनेक आगमों पर टीकाएं लिखीं। आवश्यकसूत्र पर भी उन्होंने आवश्यकविवरण नामक वृत्ति लिखी है। यह विवरण मूल सूत्र पर न होकर आवश्यकनिर्युक्ति पर है। यह विवरण अपूर्ण ही प्राप्त हुआ है। इसमें मंगल आदि पर विस्तार से विवेचन और उसकी उपयोगिता पर चिन्तन किया गया है। निर्युक्ति की गाथाओं पर सरल और सुबोध शैली में विवेचन किया है। विवेचन की विशिष्टता यह है—आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं पर स्वतन्त्र विवेचन न कर उनका सार अपनी वृत्ति में उट्टंकित कर दिया है। वृत्ति में जितनी भी गाथाएं आई हैं, वे वृत्ति के वक्तव्य को पुष्ट करती हैं। वृत्ति में विशेषावश्यकभाष्य की स्वपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख हुआ है साथ ही प्रज्ञाकरगुप्त, आवश्यक चूर्णिकार, आवश्यक मूल टीकाकार, आवश्यक मूल भाष्यकार, लघीयस्त्रयालंकार, अकलङ्क-न्यायावतार वृत्तिकार प्रभृति का भी उल्लेख हुआ है। यत्र-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए कथाएं भी उद्धृत की गई हैं। कथाओं की भाषा प्राकृत है। वर्तमान में जो विवरण उपलब्ध है उसमें चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन के 'थूभं रयणविचित्तं कुंथुं सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो' के विवेचन तक प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भगवान् अरनाथ के उल्लेख के बाद का विवरण नहीं मिलता है। यह जो विवरण है वह चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन तक है और वह भी अपूर्ण है। जो विवरण उपलब्ध है उसका ग्रन्थमान १८००० श्लोक प्रमाण है।

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र महान् प्रतिभासम्पन्न और आगमों के ज्ञाता थे। वे प्रवचनपटु और वाग्मी थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। आवश्यकवृत्ति प्रदेशव्याख्या आचार्य हरिभद्र की वृत्ति पर लिखी गई है, इसलिए उसका अपर नाम हारिभद्रीयावश्यक वृत्तिटिप्पणक है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य ने प्रदेश-व्याख्याटिप्पण भी लिखा है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यकभाष्य पर दूसरी वृत्ति शिष्यहिता है। यह वृहत्तम कृति है। आचार्य ने भाष्य में जितने भी विषय आये हैं, उन सभी विषयों को बहुत ही सरल और सुगम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। दार्शनिक चर्चाओं का प्राधान्य होने पर भी शैली में काठिन्य नहीं है। यह इसकी महान् विशेषता है। संस्कृत कथानकों से विषय में सरसता व सरलता आ गई है। यदि यह कह दिया जाये कि प्रस्तुत टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन में सरलता हो गई तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अन्य अनेक मनीषियों ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्तियां लिखी हैं। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है—जिनभट्ट, माणिक्यशेखर, कुलप्रभ, राजवल्लभ आदि ने आवश्यकसूत्र पर वृत्तियों का निर्माण किया है। इनके अतिरिक्त विक्रम संवत् ११२२ में नमि साधु ने, संवत् १२२२ में श्री चन्द्रसूरि ने, संवत् १४४० में श्री ज्ञानसागर ने, संवत् १५०० में धीर सुन्दर ने, संवत् १५४० में शुभवर्द्धनगिरि ने, संवत् १६९७ में हितरुचि ने तथा सन् १९५८ में पूज्य घासीलालजी महाराज ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्ति का निर्माण कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। टीका युग समाप्त होने के पश्चात् जनसाधारण के लिये आगमों के शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएं बनाई गईं जो स्तवक या टब्बा के नाम से विश्रुत हैं। और वे लोकभाषाओं में सरल और सुबोध शैली में लिखी गईं। धर्मसिंह मुनि ने १८ वीं शताब्दी में २७ आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे थे। उनके टब्बे मूलस्पर्शी अर्थ को स्पष्ट करने वाले हैं। उन्होंने आवश्यक पर भी टब्बा लिखा था। टब्बों के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध है—अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी। आवश्यकसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद नहीं हुआ है, गुजराती और हिन्दी में ही अनुवाद हुआ है। शोध प्रधान युग में आवश्यकसूत्र पर पंडित सुखलालजी सिंघवी तथा उपाध्याय अमरमुनिजी प्रभृति विज्ञों ने विषय का विश्लेषण करने के लिये हिन्दी में शोध निबन्ध भी प्रकाशित किये हैं।

आधुनिक युग मुद्रण का युग है। इस युग में विराट् साहित्य मुद्रित होकर जनता-जनार्दन के कर-कमलों में पहुँचा है। आगमों के प्रकाशन का कार्य विभिन्न संस्थाओं द्वारा समय-समय पर हुआ है। आवश्यकसूत्र और उसका व्याख्यासाहित्य इस प्रकार प्रकाशित हुआ है—

सन् १९२८ में आगमोदय समिति बम्बई ने आवश्यकसूत्र भद्रबाहुनिर्युक्ति और मलयगिरि वृत्ति के साथ प्रथम भाग प्रकाशित किया। उसका द्वितीय भाग सन् १९३२ में तथा तृतीय भाग सन् १९३६ में देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सूरत से प्रकाशित हुए।

सन् १९१६-१७ में आवश्यक भद्रबाहुनिर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति के साथ आगमोदय समिति बम्बई से प्रकाशित हुई।

सन् १९२० में आवश्यकसूत्र मलधारी हेमचन्द्र विहित प्रदेशव्याख्या के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई ने प्रकाशित किया।

सन् १९३९ और १९४१ में भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्ति की माणिक्यशेखर विरचित दीपिका विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत से प्रकाशित हुई।

सन् १९२८ और सन् १९२९ में आवश्यकचूर्णि जिनदासरचित क्रमशः पूर्व भाग और उत्तर भाग प्रकाशित हुआ है। वीर संवत् २४२७ से २४४१ में विशेषावश्यकभाष्य शिष्यहिताख्य बृहद्वृत्ति, मलधारी आचार्य हेमचन्द्र की टीका सहित, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस से प्रकाशित हुआ। सन् १९२३ में 'विशेषावश्यक-गाथानामकारादिक्रमः तथा विशेषावश्यकविषयाणामनुक्रमः आगमोदय समिति बम्बई से प्रकाशित हुए।

सन् १९६६ में विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति सहित लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर से तीन भागों में प्रकाशित हुआ है।

सन् १९३६ और १९३७ में कोट्याचार्य कृत विशेषावश्यकभाष्य विवरण का प्रकाशन ऋषभदेवजी केसरीमलजी प्रचारक संस्था रतलाम से हुआ। सन् १९३६ में ही आवश्यक नमिसार वृत्ति विजयदान सूरीश्वर ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुई।

सन् १९५८ में पूज्य घासीलालजी महाराजकृत आवश्यकसूत्र संस्कृत व्याख्या हिन्दी व गुजराती अनुवाद से साथ जैनशास्त्रोद्धार समिति राजकोट ने प्रकाशित किया।

सन् १९०६ में आवश्यकसूत्र गुजराती अनुवाद के साथ भीमसी माणेक बम्बई ने और सन् १९२४ से २७ तक आगमोदय समिति बम्बई ने गुजराती अनुवाद प्रकाशित कर अपनी साहित्यिक रुचि का परिचय दिया। वीर संवत् २४४६ में आचार्य अमोलकऋषिजी ने ३२ आगमों का जो हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया, उस लड़ी की कड़ी में आवश्यकसूत्र भी प्रकाशित हुआ।

आवश्यकसूत्र का मूल पाठ भी अनेक स्थलों से प्रकाशित हुआ है। गुडगांव छावनी से सन् १९५४ में मुनि फूलचन्दजी 'पुप्फभिक्खु' ने सुत्तागमे का प्रकाशन करवाया, उस में तथा सैलाना से सन् १९८४ में प्रकाशित 'अंगपविट्ठसुत्ताणि' में मूल पाठ प्रकाशित हुआ है। आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजयजी महाराज ने जैन आगम ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस्वी सन् १९७७ में श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई से 'दसवेयालियसुत्तं उत्तरज्झयणाइं आवस्सयसुत्तं' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। यह अनेक ग्रन्थों के टिप्पण, सूत्रानुक्रम, शब्दानुक्रम, विशेषनामानुक्रम आदि अनेक परिशिष्टों के साथ प्रकाशित है। शोधार्थियों के लिये बहुत ही उपयोगी है।

संवत् २००७ में सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से सामायिकसूत्र और श्रमणसूत्र हिन्दी विवेचन सहित प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण और सम्पादन

समय-समय पर आवश्यकसूत्र पर बहुत लिखा गया है और विभिन्न स्थानों से उसका प्रकाशन भी हुआ है। उसी प्रकाशन की धवल परम्परा में प्रस्तुत प्रकाशन भी है। श्रमण संघ के युवाचार्य स्वर्गीय पण्डितप्रवर मधुकर मिश्रीमलजी महाराज की यह हार्दिक इच्छा थी कि आगमबत्तीसी का प्रकाशन हो। उनके संयोजकत्व और प्रधान सम्पादकत्व में आगम प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हुआ। स्वल्प समय में ही अनेक आगमों के शानदार प्रकाशन हुए। पर परिताप है कि युवाचार्यश्री की कमनीय कल्पना उनके जीवनकाल में पूर्ण नहीं हो सकी। सन् १९८३ में उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास से एक महामनीषी सन्तरत्न की क्षति हुई। उनकी हार्दिक इच्छा को मूर्त्त रूप देने का उत्तरदायित्व सम्पादक मण्डल और प्रकाशन समिति का था। प्रसन्नता है सम्पादक मण्डल और प्रकाशन समिति ने अपना उत्तरदायित्व निष्ठा के साथ निभाया है और अनेक मूर्धन्य मनीषियों के सहयोग से इस कार्य को सम्पन्न करने का संकल्प किया है। आवश्यकसूत्र के सम्पादन का श्रेय परम विदुषी साध्वीरत्न उमरावकुंवरजी 'अर्चना' की सुशिष्या विदुषा महासती श्री सुप्रभाजी एम. ए., साहित्यरत्न, सिद्धान्ताचार्य को है। इसमें शुद्ध मूल पाठ, विशिष्ट शब्दों का अर्थ, भावार्थ और साथ ही आवश्यक विवेचन दिया गया है, अतएव यह संस्करण सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। उन्होंने बहुत ही लगन के साथ इस ग्रन्थ-रत्न का सम्पादन किया है। साध्वी सुप्रभाजी उदीयमान लेखिका तथा विविध विषयों की ज्ञाता हैं। महामनीषी, आगमप्रकाशन माला के प्राण पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने अपनी कलम के स्पर्श से सम्पादन को निखारा है। भारिल्ल जी की पैनी दृष्टि से सम्पादन में चार-चांद लग गये हैं। आशा है अन्य आगमों की भांति यह आगम भी जनमानस में समादृत होगा।

आवश्यकसूत्र पर बहुत ही विस्तार से प्रस्तावना लिखने का मेरा विचार था पर अन्यान्य ग्रन्थों के लेखन में व्यस्त होने से संक्षेप में ही कुछ लिख गया हूं, उसका सारा श्रेय महामहिम विश्वसन्त अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज की महती कृपा-दृष्टि को है। उनकी महान् कृपा से ही मैं लेखन के क्षेत्र में कुछ कार्य कर सका हूँ। आवश्यकसूत्र के रहस्य को समझने के लिये यह प्रस्तावना कुछ उपयोगी होगी तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा। आज भौतिकवाद की आँधी में मानव बहिर्मुखी होता चला जा रहा है। वह अपने-आप को भूलकर पर-पदार्थों को प्राप्त करने के लिये ललक रहा है और उसके लिये अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार को अपना रहा है, जिससे वह स्वयं अशांत है, परिवार, समाज और राष्ट्र में सर्वत्र अशांति की ज्वाला धधक रही है। उससे मानव व्यथित है, समाज परेशान है और राष्ट्र चिन्तित है। यह प्रगति नहीं, उसके नाम पर पनपने वाला भ्रम है। आज आवश्यकता है, जो अतिक्रमण हुआ है उससे पुनः स्वभाव की ओर लौटने की। आवश्यकसूत्र साधक को परभाव से हटाकर निजभाव में लाने का सन्देश प्रदान करता है। उस सन्देश को हम जीवन में उतार कर अपने को पावन बनाएँ, यही आन्तरिक कामना!

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन स्थानक
वीरनगर, दिल्ली-७
१८-७-८५

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

क्र.	नाम	पद	स्थान
१.	श्रीमान् सेठ कंवरलालजी बैताला	अध्यक्ष	गोहाटी
२.	श्रीमान् सेठ रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३.	श्रीमान् सेठ खींवराजजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
४.	श्रीमान् हुक्मीचन्दजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
५.	श्रीमान् धनराजजी विनायकिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
६.	श्रीमान् दुलीचन्दजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
७.	श्रीमान् जतनराजजी मेहता	महामन्त्री	मेड़तासिटी
८.	श्रीमान् चाँदमलजी विनायकिया	मन्त्री	ब्यावर
९.	श्रीमान् ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
१०.	श्रीमान् चाँदमलजी चौपड़ा	सहमन्त्री	ब्यावर
१·	श्रीमान् जौहरीलालजी शीशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१२.	श्रीमान् गुमानमलजी चोरड़िया	कोपाध्यक्ष	मद्रास
१३.	श्रीमान् पारसमलजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१४.	श्रीमान् मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१५.	श्रीमान् जी. सायरमलजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१६.	श्रीमान् जेठमलजी चोरड़िया	सदस्य	बैंगलोर
१७.	श्रीमान् मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
१८.	श्रीमान् बादलचन्दजी मेहता	सदस्य	इन्दौर
१९.	श्रीमान् मांगीलालजी सुराणा	सदस्य	सिकन्दराबाद
२०.	श्रीमान् भंवरलालजी गोठी	सदस्य	मद्रास
२१.	श्रीमान् भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुर्ग
२२.	श्रीमान् किशनचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२३.	श्रीमान् प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२४.	श्रीमान् प्रकाशचन्दजी जैन	सदस्य	नागौर
२५.	श्रीमान् भंवरलालजी मूथा	सदस्य	जयपुर
२६.	श्रीमान् जालमसिंहजी मेड़तवाल	परामर्शदाता	ब्यावर

आवश्यकसूत्रम् : विषयानुक्रमणिका

पंचम अध्ययन : कायोत्सर्ग

षष्ठाध्ययन : प्रत्याख्यान

परिशिष्ट

आवस्सयसुत्तं

आवश्यकसूत्रम्

आवश्यकसूत्रम्

गुरुवन्दन-सूत्र

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि ।

भावार्थ—हे गुरु महाराज ! मैं अञ्जलिपुट को तीन बार दाहिने हाथ की ओर से प्रारंभ करके फिर दाहिने हाथ की ओर तक घुमाकर अपने ललाटप्रदेश पर रखता हुआ प्रदक्षिणापूर्वक स्तुति करता हूँ, पांच अंग झुकाकर वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, (वस्त्र, अन्न आदि से) सम्मान करता हूँ, आप कल्याण-रूप हैं, मंगल-स्वरूप हैं, आप देवतास्वरूप हैं, चैत्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं ।

अतः हे गुरुदेव ! मैं मन, वचन और शरीर से आपकी पर्युपासना—सेवाभक्ति करता हूँ तथा विनय-पूर्वक मस्तक झुकाकर आपके चरण-कमलों में वन्दना करता हूँ ।

विवेचन—भारतीय संस्कृति में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यदि जीवन में सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त न हो तो प्रभु-दर्शन भी कठिन हो जाता है । प्रत्येक मंगलकार्य के प्रारंभ में भक्ति एवं श्रद्धा के साथ गुरु को वन्दन किया जाता है ।

एक दृष्टि से भगवान् से भी सद्गुरु का महत्त्व अधिक है । एक वैदिक ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है—भगवान् यदि रुष्ट हो जाय तो सद्गुरु बचा सकता है पर सद्गुरु रुष्ट हो जाय तो भगवान की शक्ति नहीं, जो उसे उबार सके ।

**हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न वै शिवः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, गुरुमेव प्रसादयेत् ।।**

वस्तुतः सद्गुरु का महत्त्व अपरम्पार है । दीपक को प्रकाशित करने के लिये जैसे तेल की आवश्यकता है, घड़ी को चलाने के लिए चाबी की जरूरत है, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है । सद्गुरु ही जीवन के सच्चे कलाकार हैं । अतः गुरुदेव ही भव-सिन्धु में नौका स्वरूप हैं, जो भव्य प्राणियों को किनारे लगाते हैं । अज्ञानरूप अन्धकार में भटकते हुए प्राणी के लिए गुरु प्रदीप के समान प्रकाशदाता है । विश्व में गुरु से बढ़कर अन्य कोई भी उपकारी नहीं है । अनेक भक्तों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि—"गुरु न तजूं हरि को तज डालूं ।" क्योंकि हिताहित का बोध कराने वाले गुरु ही होते हैं । ऐसे परम उपकारी गुरुदेव की चरण-वन्दना, सेवा, अर्चना आदि शिष्य समर्पण भाव से करे तब ही वह जीवन और जगत् का रहस्य समझ सकता है ।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ

तिक्खुत्तो—त्रिकृत्वः—तीन बार।

आयाहिणं—दाहिनी ओर से। इसका 'आदक्षिणं' संस्कृत रूप बनता है।

पयाहिणं—का संस्कृत रूप 'प्रदक्षिणम्' होता है। अर्थात् दाहिनी ओर से प्रदक्षिणापूर्वक।

वंदामि—वन्दन करता हूँ। वन्दन का अर्थ है स्तुति करना।

नमंसामि—नमस्कार करता हूँ। इसका संस्कृत रूप **'नमस्यामि'** है। वन्दना और नमस्कार में अन्तर है। वन्दना अर्थात् मुख से गुणगान करना, स्तुति करना और नमस्कार अर्थात् काया से नम्रीभूत होना, प्रणमन करना।

कल्लाणं—कल्याणं-कल्य अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाले या शांति प्रदान करने वाले।

मंगलं—शुभ, क्षेम, प्रशस्त एवं शिव।

आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा की टीका में लिखा है—

"मंग्यते—अधिगम्यते हितमनेन इति मंगलम्" अर्थात् जिसके द्वारा साधक को हित की प्राप्ति हो वह मंगल है।

"मां गालयति भवादिति मंगलम्-संसारादपनयति" जो मुझे (आत्मा को) संसार के बन्धन से अलग करता है, छुड़ाता है, वह मंगल है। विशेषावश्यकभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीहेमचन्द्राचार्य कहते हैं—"मङ्क्यते-अलंक्रियते आत्मा येनेति मंगलम्" जिसके द्वारा आत्मा शोभायमान हो वह मंगल है। अथवा जिसके द्वारा स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त किया जाता है या पाप का विनाश किया जाता है, उसे मंगल कहते हैं।

नमस्कारसूत्र

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं॥

भावार्थ—अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, मानव-लोक में विद्यमान समस्त साधुओं को नमस्कार हो।

एसो पंच नमोक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

भावार्थ—उपर्युक्त पांच परमेष्ठी—महान् आत्माओं को किया हुआ यह नमस्कार सब प्रकार के पापों को पूर्णतया नाश करने वाला है और विश्व के सब मंगलों में प्रथम मंगल है।

विवेचन—भारतीय-संस्कृति में जैनसंस्कृति का और जैनसंस्कृति में भी जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन परम्परा में नमस्कारमंत्र या नवकारमंत्र से बढ़कर दूसरा कोई मंत्र नहीं है। जैनधर्म अध्यात्म-प्रधान धर्म है। अतः उसका मंत्र भी अध्यात्मभावना से ओतप्रोत है।

नवकार मंत्र के संबंध में जैन परम्परा की मान्यता है कि यह सम्पूर्ण जैन वाङ्मय अथवा चौदह पूर्वों का सार है, निचोड़ है। जैन साहित्य का सर्वश्रेष्ठ मंत्र नवकार मंत्र है। वह दिव्य समभाव का प्रमुख प्रतीक है। इसमें बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के, विना किसी देश, जाति अथवा धर्म की विशेषता के केवल गुण-पूजा का महत्त्व बताया गया है। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में नवकार-मंत्र का दूसरा नाम परमेष्ठी-मंत्र भी है। जो महान् आत्माएँ परम पद में अर्थात् उच्च स्वरूप में स्थित हैं, वे परमेष्ठी कहलाती हैं।

नवकार मंत्र के नमस्कारमंत्र, परमेष्ठीमंत्र आदि अनेक नाम हैं। परन्तु सबसे प्रसिद्ध नाम नवकार मंत्र ही है। नवकारमंत्र में नौ पद हैं, अतः इसे नवकारमंत्र कहते हैं। पांच पद मूल पदों के हैं और शेष चार पद चूलिका के हैं। अरिहन्त आदि पांच पद साधक तथा सिद्ध की भूमिका के हैं और अन्तिम चार पद महामंत्र की महिमा के निदर्शक हैं।

मुमुक्षु मानवों ने नमस्कार को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। नमस्कार, नम्रता एवं गुणग्राहकता का विशुद्ध प्रतीक है। अपने से श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ आत्माओं को नमस्कार करने की परंपरा अनादि-काल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। अरिहन्तों के बारह, सिद्धों के आठ, आचार्यों के छत्तीस, उपाध्यायों के पच्चीस एवं साधुओं के सत्ताईस गुण हैं। इन गुणों से युक्त इन पांचों पदों के वाच्य महान् आत्माओं को किया गया नमस्कार इस नश्वर संसार से सदा के लिये छुटकारा दिलाकर शाश्वत शिव-सुख का प्रदाता है।

प्रथम पद अरिहंत का है। अरिहंत में दो शब्द हैं—'अरि' और 'हन्त'। अरि का अर्थ है—राग-द्वेष आदि अन्दर के शत्रु और हन्त का अर्थ है—नाश करने वाला।

अरिहन्त पद का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घनघातिक कर्मों का नाश करके केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया है, वह जीवन्मुक्त परमात्मा अरिहन्त है।

अरिहन्त पद के आचार्यों ने अनेक पाठान्तरों का उल्लेख किया है, यथा—अरहन्त, अर्हन्त, अरुहन्त, अरोहन्त आदि। जिनके लिये जगत् में कोई रहस्य नहीं रह गया है, जिनके केवलज्ञान-दर्शन से कुछ छिपा नहीं है, वे अरहन्त हैं। जो अशोकवृक्ष आदि प्रतिहार्यों से पूजित हैं, वे अर्हन्त हैं। जिन्हें फिर कभी जन्म नहीं लेना है अर्थात् जो जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा पा चुके हैं, उन्हें 'अरुहन्त' या 'अरोहन्त' कहते हैं।

दूसरा पद 'नमो सिद्धाणं' है। सिद्ध का अर्थ है—पूर्ण अर्थात् जिनकी साधना पूरी हो चुकी है। जो महान् आत्मा कर्म-मल से सर्वथा मुक्त होकर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा पाकर अजर, अमर, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, वे सिद्ध पद से सम्बोधित होते हैं। सिद्धों का सिद्धत्व बौद्ध मान्यता के अनुसार दीपक बुझ जाने की तरह अभावस्वरूप नहीं है और न किसी विराट् सत्ता में विलीन हो जाना है, अपितु सद्भाव स्वरूप है। सिद्धों के सुख अपार हैं। चक्रवर्ती आदि मनुष्यों को तथा समस्त देवों को भी जो सुख प्राप्त नहीं है वह अनुपम, अनन्त एवं अनिर्वचनीय आध्यात्मिक सुख सिद्धों को सदैव प्राप्त रहता है। विस्तार से उस सुख का वर्णन जानने के लिये औपपातिक सूत्र (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर पृ. १८०-१८१) देखना चाहिये।

तीसरा पद 'नमो आयरियाणं' है। आचार्य भारतीय संस्कृति का सच्चा संरक्षक है, पथप्रदर्शक है तथा आलोक-स्तंभ है। आचार्य कोई साधारण साधक न होकर एक विशिष्ट साधक है। आचार्य को धर्म-प्रधान श्रमण-संघ का पिता कहा है। "आचार्यः परमः पिता।" तीर्थंकर तो नहीं पर तीर्थंकर सदृश है। वह ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि पांच आचारों का स्वयं दृढ़ता से पालन करता है तथा अन्य साधकों को दिशा-दर्शन देता है। दीपक की तरह स्वयं जलकर दूसरे आत्म-दीपों को प्रदीप्त करता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—यह चतुर्विध संघ है, इसकी आध्यात्मिक-साधना के नेतृत्व का भार आचार्य पर ही होता है। "नमो आयरियाणं" इस पद के द्वारा अनन्त-अनन्त भूत, वर्तमान एवं अनागत आचार्यों को नमस्कार किया जाता है।

चतुर्थ पद में उपाध्यायों को नमस्कार किया गया है। यह पद भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। साधक-जीवन में विवेक-विज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। भेद-विज्ञान के द्वारा जड़ और चेतन के, धर्म और अधर्म के, उत्थान एवं पतन के, संसार और मोक्ष के पृथक्करण का भान होने पर ही साधक अपना उच्च एवं आदर्श जीवन बना सकता है और साधना के सर्वोत्तुंग शिखर पर पहुंच सकता है। अतः आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का कर्तृत्व उपाध्याय पर है।

"उप-समीपेऽधीयते यस्मात् इति उपाध्यायः।" उपाध्याय मानव-जीवन की अन्तर्ग्रन्थियों को सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते हैं और पापाचार के प्रति विरक्ति की तथा सदाचार के प्रति अनुरक्ति की शिक्षा देने वाले हैं। "नमो उवज्झायाणं" इस पद द्वारा अनन्तानन्त भूत, वर्तमान एवं आगामी काल के उपाध्यायों को वन्दना की जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त तथा सूत्र पढ़ाने के कारण उपकारी होने से उपाध्याय नमस्कार के योग्य हैं।

पांचवें पद में साधुओं को नमस्कार किया गया है। निर्वाण-साधक को अर्थात् सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नों और इनके द्वारा मोक्ष को साधने वाले अथवा सब प्राणियों पर समभाव रखने वाले, मोक्षाभिलाषी भव्यों के सहायक तथा अढ़ाई द्वीप रूप लोक में रहे हुए सभी सर्वज्ञ आज्ञानुवर्ती साधुओं को नमस्कार हो। "साधयति मोक्षमार्गमिति साधुः" अर्थात् जो सम्यग्ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नत्रय की, मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, वे साधु हैं। □□

[१]

प्रथम अध्ययन : सामायिक

प्रतिज्ञासूत्र

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं—मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ—भगवन् ! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ। अतः सावद्य-पाप कर्म वाले व्यापारों का त्याग करता हूँ।

जीवन पर्यन्त मन, वचन और शरीर—इन तीनों योगों से पाप कर्म न मैं स्वयं करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा और न करने वालों का अनुमोदन ही करूंगा।

भन्ते ! पूर्वकृत पापों से निवृत्त होता हूँ, अपने मन से पापों को बुरा मानता हूँ, आपकी साक्षी से उनकी गर्हा—निन्दा करता हूँ, अतीत में कृत पापों का पूर्ण रूप से परित्याग करता हूँ।

विवेचन—जब मोक्षाभिलाषी साधक, गृहस्थ जीवन से सर्वविरति-साधुता की ओर अग्रसर होता है, तब यह सामायिकसूत्र बोला जाता है। विश्व-हितंकर संत के पद पर पहुँचने के लिये इस सामायिक सूत्र का आलम्बन लेना जैन परम्परा के अनुसार अनिवार्य है।

सामायिक का उद्देश्य समभाव की साधना है। प्राणिमात्र पर समभाव रखना महान् उच्च आदर्श है। शास्त्रकार कहते हैं—

> "जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
> तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं।" —अनुयोगद्वार

केवली भगवान् ने कहा है—जो (साधक) समस्त त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समभाव धारण करता है, उसी को सामायिक की प्राप्ति होती है।

जैनधर्म समताप्रधान धर्म है, समता की साधना को ही सामायिक कहते हैं। सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'समस्य आयः समायः, सः प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्' अर्थात् वह अनुष्ठान जिसका प्रयोजन जीवन में समता लाना है। गृहस्थ श्रावक सामायिक स्वीकार करते समय दो करण और तीन योग से साधारणतया एक मुहूर्त्त अर्थात् ४८ मिनिट के लिये सावद्ययोग का त्याग करता है। जैनधर्म में जो भी प्रत्याख्यान अथवा नियम किया जाता है उसमें करण और योग का होना आवश्यक है। करण का अर्थ है—प्रवृत्ति। उसके तीन रूप हैं—(१) स्वयं करना, (२) दूसरे से कराना, और (३) अनुमोदन करना। योग का अर्थ है मन, वचन और शरीर।

सर्वश्रेष्ठ त्याग तीनों करणों और तीनों योगों से होता है। मुनि की सामायिक तीन करण तीन योग से होती है, अतः सर्वोत्कृष्ट त्याग मुनि का माना गया है। गृहस्थ की सामायिक दो करण तीन योग से होती है। सामायिक पाठ का उच्चारण करते समय यदि कोई गृहस्थ श्रावक स्वयं सामायिक व्रत ग्रहण कर रहा है अथवा साधु उसे व्रत ग्रहण करवा रहा है तो 'दुविहं तिविहेणं' पाठ बोला जाएगा और 'जावज्जीवाए' के स्थान पर 'जावनियमं' कहा जाएगा।

जैनधर्म में पतन के दो कारण माने गये हैं—योग और कषाय। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया की हलचल। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों आत्मा की वैषम्यपूर्ण अवस्थाएँ हैं। क्रोध उस अवस्था का नाम है जब हम दूसरे को घृणा या द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और हानि पहुँचाना चाहते हैं। मान की अवस्था में द्वेष भावना न्यून होने पर भी उस रूप में भेदबुद्धि रहती है, हम स्वयं को ऊंचा मानते हैं और दूसरे को नीचा, स्वयं को बड़ा और दूसरे को छोटा, अपने को धर्मात्मा एवं दूसरे को पापी, अधम मानते हैं। माया का अर्थ है स्वार्थ को प्रच्छन्न-रूप से या कपट के द्वारा पूर्ण करने की भावना। लोभ अर्थात् अधिक लाभ की इच्छा। लोभावस्था में स्वयं के स्वार्थ को जितना महत्त्व दिया जाता है, उतना दूसरे के स्वार्थ को नहीं। सामायिक इन्हीं अशुभ योगों और कषायों से ऊपर उठने की साधना है।

सामायिक पूर्ण करते समय गृहस्थ संभावित भूलों का चिन्तन करता है, जिन्हें जैन परिभाषा में 'अतिचार' कहते हैं। वे अतिचार पांच प्रकार के हैं—१. मनोदुष्प्रणिधान, २. वचोदुष्प्रणिधान, ३. कायदुष्प्रणिधान, ४. स्मृत्यन्तर्धान, ५. अनवस्थितता। प्रणिधान का अर्थ है—विनियोग, जिसे अंग्रेजी में Investment कहा जाता है। दुष्प्रणिधान का अर्थ है—गलत विनियोग (Wrong Investment)। मन, वचन और काया प्रत्येक साधक की बहुमूल्य सम्पत्ति है। स्मृत्यन्तर्धान का अर्थ है—इस बात को भूल जाना कि मैं सामायिक में हूँ और व्यर्थ की बातों में लगना। साधक को सदा जागरूक रहना चाहिये। अनवस्थितता का अर्थ है—चंचलता अथवा अन्यमनस्कता। जितने समय के लिये व्रत लिया है, उसे स्थिरता के साथ पूरा करना चाहिये।

मंगलसूत्र

चत्तारि मंगलं

अरिहंता मंगलं,

सिद्धा मंगलं,

साहू मंगलं,

केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

भावार्थ—संसार में चार मंगल हैं—

(१) अरिहन्त भगवान् मंगल हैं।
(२) सिद्ध भगवान् मंगल हैं।
(३) साधु-महाराज मंगल हैं।
(४) सर्वज्ञप्ररूपित धर्म मंगल है।

विवेचन—मंगल दो प्रकार के हैं—लौकिक मंगल और लोकोत्तर मंगल। दधि, अक्षत, पुष्पमाला

आदि लौकिक मंगल माने गए हैं। सूत्रोक्त अरिहन्त आदि लोकोत्तर मंगल हैं। लौकिक मंगल एकान्त और आत्यन्तिक मंगल नहीं होते। अतः अध्यात्मनिष्ठ आत्मार्थी महापुरुषों ने लौकिक मंगल से पृथक् अलौकिक मंगल की शोध की है। अलौकिक मंगल कभी अमंगल नहीं होता है। सांसारिक उलझनों से भरे लौकिक मंगल से आज दिन तक न तो किसी ने स्थायी शान्ति प्राप्त की है और न भविष्य में ही कोई कर पाएगा। स्थायी आनन्द जब तक न मिले, तब तक वह मंगल कैसा ? अतः अलौकिक मंगल ही वास्तविक मंगल है।

प्रस्तुत चार मंगलों में प्रथम दो मंगल आदर्श रूप हैं। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमशः अरिहंत और अन्त में सिद्ध पद की प्राप्ति करना ही है। अरिहन्त और सिद्ध पूर्ण आत्मविशुद्धि अर्थात् सिद्धता के आदर्श होने से आदर्श मंगल हैं, जबकि साधु साधकता के आदर्श मंगल हैं। साधु पद में आचार्य और उपाध्याय भी समाहित हो जाते हैं।

सबसे अन्त में धर्म-मंगल आता है। इसी के प्रभाव से या धर्म के फलस्वरूप ही पूर्ववर्ती अन्य पदों की प्रतिष्ठा है। धर्म की शक्ति सर्वोपरि है।

उत्तम-चतुष्टय

चत्तारि लोगुत्तमा,
अरिहंता लोगुत्तमा,
सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

भावार्थ—संसार में चार उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं—

१. अरिहंत भगवान् लोक में उत्तम हैं।
२. सिद्ध भगवान् लोक में उत्तम हैं।
३. साधु महाराज लोक में उत्तम हैं।
४. सर्वज्ञप्ररूपित धर्म लोक में उत्तम है।

विवेचन—आगमकारों ने कहा है कि उत्तम चार हैं। अनंत काल से भटकती हुई भव्य आत्माओं को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म ये चार ही उत्तम हैं तथा जो उत्तम होता है, वही मंगल होता है। यह बात विश्व-विख्यात है कि आज संसार का प्रत्येक प्रबुद्ध प्राणी उत्तम की शोध में लगा हुआ है, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, राजनैतिक क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र हो। चार उत्तमों में अरिहंत और सिद्ध परमात्मा के रूप में उत्तम हैं। कर्ममल के दूर हो जाने के बाद आत्मा का शुद्ध ज्योति रूप हो जाना ही परमात्मत्व है। साधु पद में आचार्य, उपाध्याय और मुनि, महात्मा के रूप में उत्तम हैं। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने के लिये धर्म ही एक मात्र उत्तम एवं उत्कृष्ट साधन है। कहा भी है—'धारणाद् धर्मः' अर्थात् दुर्गति में गिरती हुई आत्माओं को जो धारण करता है, बचाता है, वही उत्तम धर्म है।

आगमकार ने इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि धर्म सब मंगलों का मूल है। यदि

पुष्प में सुगन्ध न हो, अग्नि में उष्णता न हो, जल में शीतलता न हो, अथवा मिसरी में मिठास न हो तो उनका क्या स्वरूप रहेगा ? कुछ भी नहीं। ठीक यही दशा धर्महीन मानव की है। कहा भी है—"धर्मेण हीना: पशुभि: समाना:" अर्थात् धर्महीन मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं—दोनों समान हैं। धर्म की साधना शुभ की साधना है। साधना दो प्रकार की है—१. नीति की साधना, और २. धर्म की साधना। नीति की साधना, पुण्य की साधना है। यह साधना केवल नैतिकता तक ले जा सकती है और धर्म-प्रासाद की नींव का काम करती है। धर्म की साधना मुक्ति तक ले जाती है।

शरण-सूत्र

चत्तारि सरणं पवज्जामि,
अरिहंते सरणं पवज्जामि,
सि[illegible] सरणं पवज्जामि,
साहू सरणं पवज्जामि,
केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

भावार्थ—मैं चार की शरण स्वीकार करता हूँ—

१. अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूँ।
२. सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ।
३. साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ।
४. सर्वज्ञप्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

विवेचन—विश्व का कोई भी भौतिक पदार्थ मानव को वास्तविक रूप में शरण नहीं दे सकता है। चाहे माता हो, पिता हो, पुत्र हो, पत्नी हो, धन वैभव हो अथवा अन्य कोई स्वजन-परिजन हो। किन्तु इस तथ्य को न जानकर अज्ञानी मानव दुनिया के नश्वर पदार्थों को ही शरण समझता है।

वास्तविकता यह है कि विश्व मेंसिवाय अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञप्ररूपित धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई शरणदाता नहीं है। जितने भी अतीत एवं वर्तमान में दुष्ट जन शिष्ट बने हैं, वे चार शरण स्वीकार करने पर ही बने हैं। मनुष्य धर्म की शरण में आना चाहता है। धर्म में शरण देने की क्षमता है। "धम्मो दीवो पइट्ठा णं" अर्थात् धर्म एक दीप है—प्रकाशपुंज है, एक प्रतिष्ठा है—एक आधार है, एक गति है। शरण देने वाले और भी अनेक हो सकते हैं किन्तु वही उत्तम शरण है जो हमें त्राण देता है। संकटों से उबारता है, भय से विमुक्त करके निर्भय बनाता है। संसार का कौन-सा पदार्थ है जो हमें सदा के लिए मृत्यु के भय से बचा सके? पाप-कर्मों के अनिष्ट विपाक से हमारी रक्षा कर सके? यह शक्ति सूत्रोक्त चार की शरण ग्रहण में ही है। अतएव यही चार पारमार्थिक दृष्टि से शरण-भूत हैं।

प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि ठामि काउस्सगं जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ, वाइओ, माणसिओ,

उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ अणायारो, अणिच्छियव्वो, असमणपाउग्गो, नाणे तह दंसणे चरित्ते सुए सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीवनिकायाणं, सत्तण्हं पिंडेसणाणं, अट्ठण्हं पवयणमाऊणं, नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, दसविहे समणधम्मे, समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

भावार्थ—हे भदन्त ! मैं चित्त की स्थिरता के साथ, एक स्थान पर स्थिर रहकर, ध्यान-मौन के सिवाय अन्य सभी व्यापारों का परित्याग रूप कायोत्सर्ग करता हूँ । [परन्तु इसके पहले शिष्य अपने दोषों की आलोचना करता है—] ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में तथा विशेष रूप से श्रुतधर्म में, सम्यक्त्व रूप तथा चारित्र रूप सामायिक में 'जो मे देवसिओ' अर्थात् मेरे द्वारा प्रमादवश दिवस सम्बन्धी (तथा रात्रि सम्बन्धी) संयम मर्यादा का उल्लङ्घन रूप जो अतिचार किया गया हो, चाहे वह कायिक, वाचिक अथवा मानसिक अतिचार हो, उस अतिचार का पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

वह अतिचार सूत्र के विरुद्ध है, मार्ग अर्थात् परम्परा से विरुद्ध है, अकल्प्य—आचार से विरुद्ध है, नहीं करने योग्य है, दुर्ध्यान-आर्त्तध्यान रूप है, दुर्विचिन्तित—रौद्रध्यान रूप है, नहीं आचरने योग्य है, नहीं चाहने योग्य है, संक्षेप में साधुवृत्ति के सर्वथा विपरीत है—साधु को नहीं करने योग्य है ।

योग-निरोधात्मक तीन गुप्ति, चार कषायों की निवृत्ति, पांच महाव्रत, छह पृथिवीकाय, जलकाय आदि जीवनिकायों की रक्षा, सात पिण्डैषणा—(१. असंसृष्टा, २. संसृष्टा, ३. उद्धृता, ४. अल्पलेपा, ५. अवगृहीता, ६. प्रगृहीता, तथा ७. उज्झितधर्मिका), आठ प्रवचन माता (पांच समिति, तीन गुप्ति), नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, दशविध श्रमणधर्म (श्रमण-सम्बन्धी कर्तव्य) यदि खण्डित हुए हों, अथवा विराधित हुए हों, तो वह सब पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

विवेचन—मानव, देव एवं दानव के बीच की कड़ी है । वह अपनी सद्वृतियों के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता है और असद्वृतियों के द्वारा दानव जैसी निम्न कोटि में भी पहुँच सकता है । मनुष्य के पास तीन महान् शक्तियाँ हैं—मन, वचन एवं काय । इन शक्तियों के बल पर वह प्रशस्त-अप्रशस्त चाहे जैसा जीवन बना सकता है । सन्तों-मुनिजनों को तो कदम-कदम पर मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ चेष्टाओं का ध्यान रखना ही चाहिये । इस विषय में जरा भी असावधानी भयंकर पतन का कारण बन सकती है । प्रस्तुत प्रतिक्रमण-सूत्र के पाठ द्वारा इन्हीं तीन शक्तियों—योगों से रात-दिन में होने वाली भूलों का परिमार्जन किया जाता है और भविष्य में सावधान रहने की सुदृढ़ धारणा बनाई जाती है । यह प्रतिक्रमण का प्रारम्भिक सूत्र है । इसमें आचार-विचार सम्बन्धी भूलों का संक्षेप में प्रतिक्रमण किया गया है ।

कुछ पारिभाषिक शब्दों का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'उस्सुत्तो'—उस्सुत्तो का संस्कृत रूप 'उत्सूत्र' होता है । उत्सूत्र का अर्थ है—सूत्र अर्थात् आगम से विरुद्ध आचरण ।

'उम्मग्गो'—उन्मार्ग रूप अर्थात् क्षायोपशमिक भाव का उल्लङ्घन करके औदयिक भाव में संक्रमण करना उन्मार्ग है। चारित्रावरण कर्म का जब क्षयोपशम होता है, तब चारित्र का आविर्भाव होता है और जब चारित्रावरण कर्म का उदय होता है तब चारित्र का घात होता है। अतः साधक को प्रतिपल उदय भाव से क्षायोपशमिक भाव में संचरण करते रहना चाहिये। मार्ग का अर्थ परम्परा भी है।

'अकप्पो'—चरण एवं करण रूप धर्मव्यापार कल्प अर्थात् आचार कहलाता है। चरण-करण के विरुद्ध आचरण करना अकल्प है।

'सुए'—सुए अर्थात् श्रुत का अर्थ है श्रुतज्ञान। वीतराग तीर्थंकर भगवान् के श्रीमुख से सुना हुआ होने से आगम-साहित्य को श्रुत कहा जाता है। लिपिबद्ध होने से पूर्व आगम श्रुतिपरम्परा से ही ग्रहण किए जाते थे, अर्थात् गुरु अपने शिष्य को और शिष्य अपने शिष्य को मौखिक रूप में आगम प्रदान करता था। इस कारण भी आगम 'श्रुत' कहलाता है। श्रुत-सम्बन्धी अतिचार का आशय है—श्रुत की विपरीत श्रद्धा एवं प्ररूपणा।

'सत्तण्हं पिंडेसणाणं'—दोष रहित शुद्ध प्रासुक आहार-पानी ग्रहण करना एषणा है। पिण्डैषणा के सात प्रकार हैं—

१. असंसृष्टा—देय भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।

२. संसृष्टा—देय भोजन से सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।

३. उद्धृता—बर्तन से थाली आदि में गृहस्थ ने अपने लिए जो भोजन निकाल रखा हो, वह लेना।

४. अल्पलेपा—जिनमें चिकनाहट न हो, अतएव लेप न लग सके, इस प्रकार के भुने हुए चने आदि ग्रहण करना।

५. अवगृहीता—भोजनकाल के समय भोजनकर्त्ता ने भोजनार्थ थाली आदि में जो भोजन परोस रक्खा हो, किन्तु अभी भोजन शुरु न किया हो, वह आहार लेना।

६. प्रगृहीता—थाली में भोजनकर्ता द्वारा हाथ आदि से प्रथम बार तो प्रगृहीत हो चुका हो, पर दूसरी बार ग्रास लेने के कारण झूठा न हुआ हो, वह आहार लेना।

७. उज्झितधर्मा—जो आहार अधिक होने अथवा अन्य किसी कारण से फेंकने योग्य समझकर डाला जा रहा हो, वह ग्रहण करना।

'अट्ठण्हं पवयणमाऊणं'—पांच समिति और तीन गुप्ति मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ हैं। सम्पूर्ण श्रमणाचार की आधारभूमि पांच समिति और तीन गुप्ति ही हैं। समीचीन यतनापूर्वक प्रवृत्ति समिति और योगों का सम्यक् निग्रह गुप्ति कहलाता है।

पांच समिति—१. ईर्यासमिति, २. भाषासमिति, ३. एषणासमिति, ४. आयाण-भंडमत्तनिक्खेवणासमिति, ५. उच्चारपासवणखेल्ल-जल्ल-संघाण-परिट्ठावणियासमिति।

तीन गुप्ति—१. मनोगुप्ति, २. वचनगुप्ति एवं ३. कायगुप्ति।

'जं खंडियं जं विराहियं'—जो खंडित हुआ हो और विराधित हुआ हो। किसी व्रत का अल्पांशेन उल्लंघन खण्डन कहलाता है और सर्वांशेन अतिक्रमण को विराधना कहते हैं। कहीं-कहीं सर्वांश नहीं किन्तु अधिकांश के उल्लंघन को विराधना कहा गया है।

'मिच्छा मि दुक्कडं'—मेरा दुष्कृत मिथ्या—निष्फल हो। 'मिच्छा मि' इस पद का 'मि' 'च्छा' 'मि' ऐसा पदच्छेद करके इस प्रकार अर्थ करते हैं—यथा 'मि'—कायिक और मानसिक अभिमान को छोड़कर, 'छा'—असंयमरूप दोप को ढँक कर, 'मि'—चारित्र की मर्यादा में रहा हुआ मैं।

'दु' 'क' 'डं'—

'दु'—सावद्यकारी आत्मा की निन्दा करता हूँ, 'क'—किये हुए सावद्य कर्म को, 'डं'—उपशम द्वारा त्यागता हूँ। अर्थात् द्रव्य एवं भाव से नम्र तथा चारित्रमर्यादा में स्थित होकर मैं सावद्य क्रियाकारी आत्मा की निन्दा करता हूँ और किये हुए दुष्कृत (पाप) को उपशम भाव से हटाता हूँ। किन्तु यह एक क्लिष्ट कल्पना है।

ऐर्यापथिक-सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे बीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे, ओसा-उत्तिंगपणग-दग-मट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे,

जे मे जीवा विराहिया—एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। मार्ग में चलते हुए अथवा संयमधर्म पालन करते हुए लापरवाही अथवा असावधानी के कारण किसी भी जीव की किसी प्रकार की विराधना अर्थात् हिंसा हुई हो तो मैं उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

स्वाध्याय आदि के लिये उपाश्रय से बाहर जाने में और फिर लौटकर उपाश्रय आने में अथवा मार्ग में कहीं गमनागमन करते हुए प्राणियों को पैरों के नीचे या किसी अन्य प्रकार से कुचला हो, सचित्त जौ, गेहूं या किसी भी तरह के बीजों को कुचला हो, घास अंकुर आदि हरित वनस्पति को मसला हो, दबाया हो, आकाश से रात्रि में गिरने वाली ओस, उत्तिंग अर्थात् कीड़ी आदि के बिल, पांचों ही रंग की सेवाल—काई, सचित्त जल, सचित्त पृथ्वी और मकड़ी के सचित्त जालों को दबाया हो, मसला हो तो मेरा वह सब अतिचारजन्य पाप मिथ्या हो—निष्फल हो तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तक किसी भी जीव की विराधना—हिंसा की हो, सामने आते हुए को रोका हो, धूल आदि से ढँका हो, जमीन पर या आपस में मसला हो, एकत्रित करके ऊपर नीचे ढेर किया हो, असावधानी से क्लेशजनक रीति से छुआ हो, परितापित अर्थात् दुःखित किया हो, थकाया हो, त्रस्त—हैरान किया हो, एक जगह से दूसरी जगह बदला हो, जीवन से रहित किया हो, तो मेरा वह सब पाप मिथ्या हो—निष्फल हो।

विवेचन—मनुष्य भ्रमणशील है। वह सदा-सर्वदा घूमता रहता है। कभी शरीर से घूमता है, कभी वाणी से दुनियां की सैर करता है, तो कभी मन से आकाश-पाताल को नापता है। उसका एक योग निरंतर गतिशील रहता है। उसकी यात्रा जिन्दगी की पहली सांस से प्रारम्भ होती है और अन्तिम सांस तक चलती रहती है। साधु तो विशेप रूप से घुमक्कड़ हैं। तात्पर्य यह है कि जीवन में गमनागमन करना अनिवार्य क्रिया है और उससे अन्य प्राणियों को पीड़ा होना भी स्वाभाविक है।

प्रस्तुत ऐर्यापथिक सूत्र में गमनागमन आदि प्रवृत्तियों में किस प्रकार और किन-किन जीवों को पीड़ा पहुँच जाती है? इसका अत्यन्त सूक्ष्मता एवं विशदता से वर्णन किया गया है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी सूक्ष्म एवं स्थूल जीवों को हुई पीड़ा के लिये हृदय से पश्चात्ताप करके शुद्ध-विशुद्ध वनाने का प्रभावशाली विधान इस पाठ में किया गया है।

जैनधर्म विवेकप्रधान धर्म है। विश्व में जितने भी धर्म के व्याख्याकार हुए हैं, उन्होंने प्रत्येक साधना को, चाहे वह लघु हो, चाहे महान्, चाहे सामान्य हो, चाहे विशिष्ट, विवेक की कसौटी पर कसकर देखा है। जिस साधना में विवेक है, वह सम्यक् साधना है, शुभ योग वाली साधना है और जिसमें अविवेक है, वह असम्यक् और अशुभ योग वाली साधना है। आचाराङ्गसूत्र में स्पष्ट कहा है—'विवेगे धम्ममाहिए' अर्थात् विवेक में ही धर्म है, विवेक सत्यासत्य का परीक्षण करने वाला दिव्य नेत्र है। हेय क्या है, ज्ञेय क्या है, उपादेय क्या है, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है? विवेकी पुरुष इन सब वातों का विवेक से ही निर्णय करता है। यतना अर्थात् विवेकपूर्वक चलने फिरने, खड़े होने, वैठने, सोने, आदि से पाप कर्म का वन्ध नहीं होता, क्योंकि पाप-कर्म के वन्धन का मूल कारण अयतना है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

> जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
> जयं भुंजंतो भासंतो, पाव-कम्मं न वंधई॥ —दश. ४। ८

प्रस्तुत पाठ हृदय की कोमलता का ज्वलन्त उदाहरण है। विवेक और यतना के संकल्पों का जीता जागता चित्र है। आवश्यक प्रवृत्ति के लिए इधर-उधर आना-जाना हुआ हो और उपयोग रखते हुए भी यदि कहीं असावधानीवश किसी जीव को पीड़ा पहुँची हो तो उसके लिये प्रस्तुत सूत्र में पश्चात्ताप प्रकट किया गया है।

'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए'

यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञासूत्र है। इसके द्वारा गुरुदेव से ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है।

'इच्छामि' शब्द से ध्वनित होता है कि साधक पर वाहर का कोई दवाव नहीं है। वह स्वेच्छापूर्वक अन्तर की प्रेरणा से ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता है। इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा मांग रहा है। प्रायश्चित्त और दण्ड में यही अन्तर है। प्रायश्चित्त में अपराधी स्वयं अपने अपराध को स्वीकार करके पुनः आत्मशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करने को तत्पर रहता है। दण्ड में स्वेच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है।

'गमणागमणे' से लेकर 'जीवियाओ ववरोविया' तक का पाठांश आलोचनासूत्र है। आलोचना का अर्थ है गुरु महाराज के समक्ष अपने अपराध को एक के बाद एक क्रमशः प्रकट करना। अपनी भूल स्वीकार करना बहुत बड़ी बात है, और फिर उसे गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से यथावत् रूप में निवेदन करना तो और भी बड़ी बात है। आत्मशोधन की आन्तरिक कामना रखने वाले साहसी वीर पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं।

विशिष्ट शब्दों का स्पष्टीकरण

'अभिहया'—इसका संस्कृत रूप 'अभिहताः' बनता है, जिसका अर्थ है सम्मुख आते हुए को रोका हो। अर्थात् सामने आते प्राणियों को रोककर उनकी स्वतन्त्र गति में बाधा डाली हो।

'वत्तिया'—(वर्तिताः) अर्थात् धूल आदि से ढंके हों।

'लेसिया'—का अर्थ है जीवों को भूमि पर मसलना और संघट्टिया का अर्थ है जीवों का स्पर्श करके पीडित करना।

'उत्तिग'—का अर्थ चींटियों का नाल अथवा चींटियों का बिल किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने इनका अर्थ 'गर्दभ' की आकृति का जीव विशेष भी किया है,—उत्तिगा गर्दभाकृतयो जीवाः, कीटिकानगराणि वा।' आचार्य जिनदास महत्तर के उल्लेख से मालूम होता है कि यह भूमि में गड्ढा करने वाला जीव है। 'उत्तिगा नाम गद्भाकिती जीवा भूमीए खड्डयं करेंति ।'—आवश्यकचूर्णि। 'दग'—सचित्त जल। 'मट्टी'—सचित्त पृथ्वी। 'ठाणाओ ठाणं संकामिया'—एक स्थान से दूसरे स्थान पर धकेला हो। 'ववरोविया'—घात किया हो।

आगार-सूत्र

तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्त-करणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं,

अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं, भमलीए, पित्तमुच्छाए,

सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं,
सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं,
सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं
एवमाइएहिं आगारेहिं,
अभग्गो अविराहिओ, हुज्ज मे काउस्सग्गो,
जाव अरिहंताणं भगवंताणं,
नमुक्कारेणं न पारेमि,
ताव कायं ठाणेणं मोणेणं
झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ—आत्मा की विशेष उत्कृष्टता, निर्मलता या श्रेष्ठता के लिये, प्रायश्चित्त के लिए, शल्यरहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग में कायव्यापारों का परित्याग करता हूँ, निश्चल होता हूँ। परन्तु जो शारीरिक क्रियाएँ अशक्यपरिहार होने के कारण स्वभावतः हरकत में आ जाती हैं उनको छोड़कर। (वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं—)

ऊँचा श्वास, नीचा श्वास, खाँसी, छींक, उवासी, डकार, अपान वायु का निकलना, चक्कर आना, पित्तविकार-जन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म रूप से अंगों का हिलना, सूक्ष्म रूप से कफ का निकलना, सूक्ष्म रूप से नेत्रों की हरकत से अर्थात् संचार से, इत्यादि आगारों से मेरा कायोत्सर्ग भग्न न हो एवं विराधना रहित हो।

जब तक अरिहंत भगवानों को नमस्कार न कर लूँ, तब तक एक स्थान पर स्थिर रह, मौन रहकर, धर्मध्यान में चित्त को स्थिर करके अपने शरीर को पापव्यापारों से अलग करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अतिचारों की विशेष शुद्धि के लिये विधिपूर्वक कायोत्सर्ग का स्वरूप बताया गया है।

यहाँ पर 'तस्स' पद से अतिचारयुक्त आत्मा को ग्रहण किया गया है। कोई-कोई 'तस्स' इस पद से अतिचार का ग्रहण करते हैं, लेकिन वह उचित नहीं है। वास्तव में उसका सम्बन्ध 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' इस पद के साथ है। 'उत्तरीकरणेणं' और 'विसल्लीकरणेणं' के साथ उसका सम्बन्ध नहीं बैठता। कारण यह है कि न तो अतिचारों को उत्कृष्ट बनाने के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है और न उसमें माया आदि शल्य होते हैं। मायादि शल्य तो आत्मा के विभाव परिणाम हैं, अतः स्पष्ट है कि 'तस्स' का अर्थ आत्मा ही हो सकता है। आत्मविकास की प्राप्ति के लिये शरीर सम्बन्धी समस्त चंचल व्यापारों का त्याग करना ही इस सूत्र का प्रयोजन है।

यह उत्तरी-करण सूत्र है। इसके द्वारा ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण से शुद्ध आत्मा में बाकी रही हुई सूक्ष्म मलीनता को भी दूर करने के लिये विशेष परिष्कार—स्वरूप कायोत्सर्ग का संकल्प किया जाता है। प्रस्तुत उत्तरीकरण पाठ के सम्बन्ध में संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि व्रत एवं आत्मा की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त आवश्यक है। प्रायश्चित्त बिना भाव की शुद्धि के नहीं हो सकता। भाव-शुद्धि के लिए शल्य (माया, निदान, मिथ्यादर्शन) का त्याग जरूरी है। शल्य का त्याग और पापकर्मो का नाश कायोत्सर्ग से ही हो सकता है, अतः कायोत्सर्ग करना परमावश्यक है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ

'तस्स'—अतिचारों से दूषित आत्मा की। **'उत्तरीकरणेणं'**—उत्कृष्टता या निर्मलता के लिए, **'विसल्लीकरणेणं'**—शल्यरहित करने के लिये। **'ठामि'**—करता हूँ। **उड्डुएणं**—डकार आने से। **'भमलीए'**—चक्कर आ जाने से। **'खेलसंचालेहिं'**—खेल-श्लेष्म-कफ के संचार से।

ज्ञान के अतिचार का पाठ

आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुत्तागमे, अत्थागमे तदुभयागमे।[1]

जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं,

---

१. इस तरह तीन प्रकार के आगम रूप ज्ञान के विषय में कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं।

सुट्ठुदिण्णं, दुट्ठु पडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झाइयं,[1] तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

भावार्थ—आगम तीन प्रकार का है—

१. सुत्तागम, २. अत्थागम, ३. तदुभयागम।

जिसमें अक्षर थोड़े पर अर्थ सर्वव्यापक, सारगर्भित, सन्देहरहित, निर्दोष तथा विस्तृत हो उसे विद्वान् लोग 'सूत्र' कहते हैं।

सूत्र रूप आगम 'सूत्रागम' कहलाता है तथा जो मुमुक्षुओं से प्रार्थित हो उसे 'अर्थागम' कहते हैं। केवल सूत्रागम से प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये सूत्र और अर्थ रूप 'तदुभयागम' कहा है।

इस आगम का पाठ करने में जो अतिचार—दोष लगा हो, उसका फल मिथ्या हो। वे अतिचार इस प्रकार हैं—

१. सूत्र के अक्षर उलट-पलट पढ़े हों।

२. एक ही शास्त्र में अलग-अलग स्थानों पर आये हुए समान अर्थ वाले पाठों को एक स्थान पर लाकर पढ़ा हो अथवा अस्थान में विराम लिया हो या अपनी बुद्धि से सूत्र बनाकर सूत्र में डालकर पढ़े हों।

३. हीन अक्षर युक्त अर्थात् कोई अक्षर कम करके पढ़ा हो।

४. अधिक अक्षर युक्त पढ़ा हो।

५. पदहीन पढ़ा हो,

६. विनयरहित पढ़ा हो,

७. योगहीन (मन की एकाग्रता से रहित) पढ़ा हो। अथवा जिस शास्त्र के अध्ययन के लिए जो आयंबिल आदि करने रूप योगोद्वहन—तपश्चरण विहित है, उसे न करके पढ़ा हो।

८. उदात्त आदि स्वरों से रहित पढ़ा हो।[2] अथवा पात्र-अपात्र का विवेक किए विना पढ़ाया हो।

९. 'सुट्ठुदिण्णं'—शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति हो उससे अधिक पढ़ाया हो।

१०. आगम को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो।

११. जिन सूत्रों के पठन का जो काल शास्त्र में कहा है, उससे भिन्न दूसरे काल में उन सूत्रों का स्वाध्याय किया हो।

---

१. भणतां गुणतां विचारतां ज्ञान और ज्ञानवंत की आशातना की हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

२. स्वर के तीन भेद हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। 'उच्चैरुपलभ्यमान उदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समवृत्या स्वरितः', अर्थात्—तीव्र उच्चारण पूर्वक बोलना उदात्त, धीमे बोलना अनुदात्त तथा मध्यमरूप से बोलना स्वरित कहलाता है।

१२. स्वाध्याय के शास्त्रोक्त काल में स्वाध्याय न किया हो।

१३. अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय किया हो।

१४. स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न किया हो, उनसे उत्पन्न हुआ मेरा सर्व पाप निष्फल हो।

विवेचन—जो ज्ञान तीर्थंकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण शंकारहित एवं अलौकिक है तथा भव्य जीवों को चकित कर देने वाला है अथवा जो ज्ञान अर्हन्त भगवान् के मुख से निकलकर गणधर देव को प्राप्त हुआ तथा भव्य जीवों ने सम्यक् भाव से जिसको माना उसे 'आगम' कहते हैं।

मूल पाठ रूप, अर्थ रूप एवं मूल पाठ और अर्थ-उभय रूप, इस तरह तीन प्रकार के आगमज्ञान के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ। यदि सूत्र क्रमपूर्वक न पढ़ा गया हो, यथा—'नमो अरिहंताणं' की जगह 'अरिहंताणं नमो' ऐसा पढ़ा हो। अक्षरहीन पढ़ा हो, जैसे 'अनल' शब्द का अकार कम कर दिया जाय तो 'नल' बन जाता है। तथा 'कमल' शब्द के 'क' को कम कर देने से 'मल' बन जाता है इत्यादि; इस विषय में विद्याधर और अभयकुमार का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

उड़ते-गिरते किसी विद्याधर के विमान को देखकर अपने पुत्र अभयकुमार के साथ राजा श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—भन्ते! यह विमान इस प्रकार उड़-उड़ कर क्यों गिर रहा है? तब भगवान् ने फरमाया कि—यह विद्याधर अपनी विद्या का एक अक्षर भूल गया है, जिससे यह विमान विना पांख के पक्षी की तरह बार-बार गिरता है।

ऐसा सुनकर राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार ने अपनी पदानुसारिणी-लब्धि द्वारा उसके विमानचारण मंत्र को पूरा करके उसके मनोरथ को सिद्ध किया और उस विद्याधर से आकाशगामिनी विद्या की सिद्धि का उपाय सीख लिया।

अधिक अक्षर जोड़कर पढ़ा जाए तो—यथा 'नल' शब्द के पहले 'अ' जोड़कर पढ़ा जाए तो 'अनल' बन जाता है, जिसका अर्थ अग्नि है। पद को न्यून या अधिक करके बोला गया हो, विनय-रहित पढ़ा गया हो, योगहीन पढ़ा हो, उदात्तादि स्वर रहित पढ़ा हो, शक्ति से अधिक पढ़ाया हो, पढ़ा हो, आगम को बुरे भाव से ग्रहण किया हो।

अकाल में स्वाध्याय किया हो और स्वाध्याय के लिए नियत काल में स्वाध्याय न किया हो, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय किया हो,[1] स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न किया हो तथा पढ़ते समय, विचारते समय ज्ञान तथा ज्ञानवन्त पुरुषों की अविनय-आशातना की हो तो मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

॥ प्रथमं सामायिकावश्यकं सम्पन्नम् ॥

---

१. अस्वाध्याय के लिए देखिए परिशिष्ट।

[२]

द्वितीय अध्ययन : चतुर्विंशतिस्तव

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥१॥

उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥

सुविहं च पुप्फदंतं, सीयल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥

कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

एवं मए अभिथुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥

कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहि लाभं, समाहि-वरमुत्तमं दिंतु ॥६॥

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

भावार्थ—अखिल विश्व में धर्म या सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, रागद्वेष को जीतने वाले, अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करने वाले केवलज्ञानी चौवीस तीर्थंकरों का मैं कीर्तन करूंगा अर्थात् स्तुति करूंगा या करता हूँ ॥१॥

श्री ऋषभदेव को और अजितनाथ को वन्दन करता हूँ। सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व और रागद्वेष के विजेता चन्द्रप्रभ जिन को नमस्कार करता हूँ ॥२॥

श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमलनाथ, रागद्वेष के विजेता अनन्त, धर्मनाथ तथा श्री शान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥३॥

श्री कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत एवं नमिनाथजिन को वन्दन करता हूँ। इसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और वर्धमान स्वामी को भी नमस्कार करता हूँ ॥४॥

जिसकी मैंने नामनिर्देशपूर्वक स्तुति की है, जो कर्म रूप रज एवं मल से रहित हैं, जो जरा-

मरण—दोनों से सर्वथा मुक्त हैं, वे ग्रान्तरिक शत्रुओं पर विजय पाने वाले धर्मप्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों ॥५॥

जिनकी इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, वन्दना की है, भाव से पूजा की है और जो सम्पूर्ण लोक में सबसे उत्तम हैं, वे तीर्थंकर भगवान् मुझे आरोग्य अर्थात् आत्म-स्वास्थ्य या सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, बोधि—सम्यक् दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ तथा श्रेष्ठ समाधि प्रदान करें ॥६॥

जो चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयंभूरमण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि अर्पण करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो।

विवेचन—पहले अध्ययन में सावद्य योग की निवृत्ति रूप सामायिक का निरूपण करके अब चतुर्विंशति स्तव रूप इस दूसरे अध्ययन में समस्त सावद्य योगों की निवृत्ति का उपदेश होने से सम्यक्त्व की विशुद्धि तथा जन्मान्तर में भी बोधि और सम्पूर्ण कर्मों के नाश के कारण होने से परम उपकारी तीर्थंकर भगवन्तों का गुण-कीर्तन अर्थात् स्तवन किया गया है।

जो केवलज्ञान रूपी सूर्य अथवा ज्ञान के द्वारा देखा जाय उसे व्युत्पत्ति की अपेक्षा से 'लोक' कहते हैं। यहाँ जैन परिभाषा के अनुसार 'लोक' शब्द से पञ्चास्तिकाय का ग्रहण है। शास्त्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप चतुर्विध लोक का भी कथन है। यहाँ इन सभी का ग्रहण समझ लेना चाहिये। इस समस्त लोक को प्रवचन रूपी दीपक द्वारा प्रकाशित करने वाले, प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर सुगति में धारण करने वाले, धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले, रागादि कर्मशत्रुओं को जीतने वाले चौबीस तीर्थंकरों की मैं स्तुति करता हूँ।

इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने की सामान्य रूप से प्रतिज्ञा करने के पश्चात् नामग्रहणपूर्वक विशेष रूप से स्तुति की गई है। जो लोकालोक के स्वरूप को जानने वाले, परम पद को प्राप्त होने वाले, भव्य जनों के आधारभूत, धर्म रूपी बगीचे को प्रवचन रूप जल से सींचने वाले तथा वृषभ के चिह्न से युक्त हैं, ऐसे श्री ऋषभदेव स्वामी को मैं वन्दन करता हूँ ॥

जो रागद्वेष को जीतने वाले हैं तथा जब वे गर्भ में आये तब चौपड़ खेलते समय माता की हार न होने से जिनका नाम 'अजित' पड़ा है, उन श्रीअजितनाथ को मैं वन्दन करता हूँ।

जो अनन्त सुख स्वरूप हैं, और जिनके गर्भ में आते ही धान्यादि का अधिक संभव होने से दुर्भिक्ष मिटकर सुभिक्ष हो गया ऐसे श्री संभवनाथ को वन्दन करता हूँ।

जो भव्य जीवों को हर्षित करने वाले हैं और गर्भ में आने पर जिनका इन्द्र ने बार-बार स्तवन-अभिनन्दन किया उन श्रीअभिनन्दन स्वामी को मैं वन्दन करता हूँ।

इसी प्रकार विभिन्न विशेषताओं से युक्त केवलज्ञानियों में श्रेष्ठ चौबीस तीर्थंकर हैं, वे मुझ पर प्रसन्न हों। 'चउवीसंपि' में 'अपि' शब्द से महाविदेह क्षेत्र में विहरमान तीर्थंकर ग्रहण किए गए हैं। उन सबको भी वन्दन करता हूँ।

कतिपय शब्दों का स्पष्टीकरण—**कित्तिय**—पृथक्-पृथक् नाम से कीर्तित अथवा स्तुत, **वंदिय**—वन्दित-मन वचन तथा काय से स्तुत, **महिया**—पूजित, ज्ञानातिशय आदि गुणों के कारण सब प्राणियों द्वारा सम्मानित। पूजा का अर्थ सत्कार एवं सम्मान करना है। आचार्यों ने पूजा के दो भेद किए हैं—द्रव्यपूजा एवं भावपूजा। प्रभुपूजा के लिये पुष्पों की आवश्यकता होती है, किन्तु वे निरवद्य अचित्त भाव-पुष्प ही होने चाहिये। इसके विषय में जैन-जगत् प्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र ने अष्टक प्रकरण में प्रभुपूजा के योग्य भाव-पुष्पों का वर्णन इस प्रकार किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसंगता।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते॥ —अष्टक प्रकरण ३।६

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, भक्ति, तप एवं ज्ञान रूपी प्रत्येक पुष्प जीवन को महका देने वाला है। ये हृदय के भाव पुष्प हैं।

आरुग्ग—अर्थात् आरोग्य—आत्म-स्वास्थ्य या आत्म-शांति। आरोग्य दो प्रकार का होता है—द्रव्यारोग्य और भावारोग्य। द्रव्य-आरोग्य यानी ज्वर आदि रोगों-विकारों से रहित होना। भाव-आरोग्य यानी कर्म-विकारों से रहित होना। अर्थात् आत्म-शांति मिलना, आत्मस्वरूपस्थ होना या सिद्ध होना। प्रस्तुत-सूत्र में 'आरोग्य' का मूल अभिप्राय भाव-आरोग्य से है। भाव-आरोग्य की साधना के लिए द्रव्य-आरोग्य भी अपेक्षित है, क्योंकि जब तक शरीर एवं मन स्वस्थ नहीं होगा, तब तक आत्म-साधना का होना कठिन होगा, किन्तु वह यहाँ विवक्षित नहीं है। अथवा 'आरुग्गबोहिलाभं' पद का अर्थ है—आरोग्य अर्थात् मोक्ष के लिए बोधि सम्यग्दर्शनादि का लाभ।

संसार-सागर से पार कराने वाला एवं दुर्गति से बचाने वाला धर्म ही सच्चा तीर्थ है। जो अहिंसा, सत्य आदि धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। चौवीसों ही तीर्थंकरों ने अपने-अपने समय में धर्म की स्थापना की है, धर्म से डिगती हुई जनता को पुनः धर्म में स्थिर किया है।

प्रस्तुत पाठ में अन्तिम शब्द आते हैं—**सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु**—इसका अर्थ है—सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें। यहाँ शंका हो सकती है कि—सिद्ध भगवान् तो वीतराग हैं, कृत-कृत्य हैं, किसी को कुछ देते-लेते नहीं, फिर उनसे इस प्रकार की याचना क्यों की गई है? समाधान यह है कि वस्तुतः इसका आशय यह है कि भक्त भगवान् का आलम्बन लेकर ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

॥ द्वितीय आवश्यक समाप्त ॥ □□

[३]

तृतीय अध्ययन : वन्दन

इच्छामि खमासमणो

इच्छामि खमासणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए, अणुजाणह मे मिउग्गहं, निसीहि अहोकायं कायसंफासं, खमणिज्जो भे किलामो, अप्पकिलंताणं, बहुसुभेणं भे दिवसो वइक्कंतो ? जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ? खामेमि खमासमणो ! देवसिअं वइक्कमं, आवस्सियाए पडिक्कमामि। खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वय दुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए, सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्मा-इक्कमणाए आसायणाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ—इच्छा निवेदन—हे क्षमावान् श्रमण ! मैं अपने शरीर को पाप-क्रिया से हटाकर यथाशक्ति वन्दना करना चाहता हूं।

अनुज्ञापना—इसलिये मुझको परिमित भूमि (अवग्रह) में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये।

पाप क्रिया को रोककर मैं आपके चरणों का अपने मस्तक से स्पर्श करता हूँ। मेरे द्वारा छूने से आपको बाधा हुई हो तो उसे क्षमा कीजिये।

शरीरयात्रा-पृच्छा—आपने अग्लान अवस्था में रहकर वहुत शुभ क्रियाओं से दिवस विताया है ?

संयमयात्रा-पृच्छा—आपकी संयमयात्रा तो निर्बाध है ? और आपका शरीर, मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से तो रहित है ?

अपराध-क्षमापना—हे क्षमावान् श्रमण ! मैं आपको दिवस सम्वन्धी अपराध के लिए खमाता हूँ और आवश्यक क्रिया करने में जो विपरीत अनुष्ठान हुआ है उससे निवृत्त होता हूँ। आप क्षमाश्रमण की दिवस में की हुई तेतीस में से किसी भी आशातना द्वारा मैंने जो दिवस सम्वन्धी अतिचार सेवन किया हो[1] उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ तथा किसी भी मिथ्या भाव से की हुई, दुष्ट मन से, वचन से और काया से की हुई, क्रोध, मान, माया और लोभ से की हुई, भूतकालादि सर्वकाल संवंधी सर्व मिथ्योपचार से की गई, धर्म का उल्लंघन करने वाली आशातना के द्वारा जो मैंने दिवस संवंधी अतिचार सेवन किया हो, तो हे क्षमाश्रमण ! उससे मैं निवृत्त होता हूँ, उसकी मैं निन्दा करता हूँ और विशेष निन्दा करता हूँ, गुरु के समक्ष निन्दा करता हूँ और आत्मा को (अपने आपको) पाप सम्वन्धी व्यापारों से निवृत्त करता हूँ।

१. रात्रि प्रतिक्रमण करते समय

विवेचन—दूसरे अध्ययन में प्राणातिपात आदि सावद्य योग की निवृत्तिरूप सामायिक व्रत के उपदेशक तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। तीर्थंकरों से उपदिष्ट वह सामायिक व्रत गुरु महाराज की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। इस कारण, तथा गुरुवन्दनपूर्वक ही प्रतिक्रमण करने का शिष्टाचार होने से गुरुवन्दना करना आवश्यक है। अतएव 'गुरुवन्दन' नामक तृतीय अध्ययन प्रारम्भ करते हैं—

'इच्छामि'—जैनधर्म इच्छाप्रधान धर्म है। साधक प्रत्येक साधना अपनी स्वयं की इच्छा से करता है, उस पर किसी का दबाव नहीं रहता है। चित्त की प्रसन्नता के अभाव में अरुचि-पूर्वक या दबाव से की जाने वाली साधना, वस्तुतः साधना न होकर एक तरह से दण्ड रूप हो जाती है। दबाव से या भय के भार से लदी हुई निष्प्राण धर्मक्रियाएं साधक के जीवन को उन्नत बनाने के बदले कुचल देती हैं। यही कारण है कि जैनधर्म की साधना में सर्वत्र 'इच्छामि खमासमणो', 'इच्छामि पडिक्कमामि' आदि रूप में सर्वप्रथम 'इच्छामि' का प्रयोग होता है। इच्छामि का अर्थ है—मैं चाहता हूँ अर्थात् मैं अन्तःकरण की प्रेरणा से यह क्रिया करने का अभिलाषी हूँ।

'खमासमणो'—श्रमणः, शमनः, समनाः, समणः इन चारों शब्दों का प्राकृत में 'समणो' रूप बनता है। इन चारों के शब्दार्थ में किंचित् भिन्नता होने पर भी भावार्थ में भेद नहीं है।

१. **'श्रमण'**—बारह प्रकार की तपस्या में श्रम अर्थात् परिश्रम करने वाले, अथवा इन्द्रिय एवं मन का दमन करने वाले को 'श्रमण' कहते हैं।

२. **'शमन'**—क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय एवं नोकषाय रूपी अग्नि को शान्त करने वाले को 'शमन' कहते हैं।

३. **'समन'**—शत्रु तथा मित्र पर समभाव रखने वाले को 'समन' कहते हैं।

४. **'समण'**—अच्छी तरह से जिनवाणी का उपदेश देने वाले, अथवा संयम के बल से कषाय को जीतकर रहने वाले को 'समण' कहते हैं।

'श्रमु' धातु तप और खेद अर्थ में व्यवहृत होती है। अतः जो तपश्चरण करता है एवं संसार से सर्वथा निर्लिप्त रहता है, वह श्रमण कहलाता है। क्षमाप्रधान श्रमण क्षमाश्रमण होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के छह प्रकार बताए गए हैं—

'सामाइयं चउवीसत्थओ, वंदयणं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो पच्चक्खाणं।

इनमें वन्दना तीसरा आवश्यक है। इसमें शिष्य गुरुदेव को वन्दन कर सम्बोधन करके कहता है—हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! मैं अपनी शक्ति के अनुसार प्राणातिपात आदि सावद्य व्यापारों से रहित काय से वन्दना करना चाहता हूँ, अतः आप मुझे मितावग्रह (जहाँ गुरु महाराज विराजित हों, उनके चारों ओर की साढ़े तीन हाथ भूमि) में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये।

गुरु शिष्य को 'अनुजानामि' अर्थात् आज्ञा देता हूं, कहकर प्रवेश की आज्ञा देते हैं। आज्ञा पाकर शिष्य कहता है—हे गुरु महाराज ! मैं सावद्य व्यापारों को रोककर मस्तक और हाथ से आपके चरणों का स्पर्श करता हूँ। इस तरह वन्दना करने से मेरे द्वारा आपको किसी प्रकार का कष्ट पहुंचा हो तो आप उसे क्षमा करें।

खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं आवस्सियाए पडिक्कमामि—अर्थात्—हे क्षमा-श्रमण ! दिवस सम्बन्धी जो कुछ अपराध हो चुका है उसके लिये क्षमा चाहता हूँ और भविष्य में आपकी आज्ञा की आराधना रूप आवश्यक क्रिया के द्वारा अपराध से अलग रहूँगा, अर्थात् अपराध नहीं करने का प्रयत्न करूंगा।

वन्दना विधि

'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए'—वन्दना के समय उपर्युक्त सूत्रांश बोलकर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा के लिये अवग्रह से बाहर ही खड़ा रहकर दोनों हाथ ललाट-प्रदेश पर रखकर गुरु के सामने शिर झुकाए। इसका आशय यह है कि वह गुरुदेव की आज्ञाओं को सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृतप्रतिज्ञ है।

प्रथम के तीन आवर्त—'अहो'-'कायं'-'काय'—इस प्रकार दो-दो अक्षरों से पूरे होते हैं। कमलमुद्रा से अंजलिबद्ध दोनों हाथों से गुरु-चरणों को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से 'अ' अक्षर कहना, तत्पश्चात् अंजलिबद्ध हाथों को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से 'हो' अक्षर कहना, यह पहला आवर्तन है। इसी प्रकार 'का....यं' और 'का....य' के शेष दो आवर्त भी किए जाते हैं।

अगले तीन आवर्त—१. 'जत्ता भे,' २. 'जवणि,' ३. 'ज्जं च भे'—इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों के होते हैं। कमल-मुद्रा से अंजलि बांधे हुए दोनों हाथों से गुरुचरणों को स्पर्श करते हुए अनु-दात्त मन्द स्वर से 'ज' अक्षर कहना चाहिये। पुनः हृदय के पास अञ्जलि लाते हुए स्वरित-मध्यम स्वर से 'त्ता' अक्षर कहना चाहिये। फिर अपने मस्तक को छूते हुए उदात्त स्वर से 'भे' अक्षर कहना चाहिये। यह प्रथम आवर्त है। इसी पद्धति से 'ज···व···णि' और 'ज्जं···च···भे' ये शेष दो आवर्त भी करने चाहिये। प्रथम 'खमासमणे' छह और इसी प्रकार दूसरे 'खमासमणो' के छह, कुल बारह आवर्त होते हैं।

इस प्रकार शिष्य, अवग्रह के बाहर प्रथम इच्छा-निवेदन-स्थान में यथाजात मुद्रा से दोनों हाथों में रजोहरण लिए हुए आधा शरीर झुकाकर नमन करता है और 'इच्छामि खमासमणो' से लेकर 'निसीहियाए' तक का पाठ पढ़कर वन्दनकर्ता शिष्य वन्दन करने की इच्छा निवेदन करता है। शिष्य के इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् अवग्रह से बाहर रहकर ही 'तिक्खुत्तो' के पाठ से वन्दन कर लेना चाहिये। अथवा गुरु 'छन्देणं' ऐसा शब्द कहते हैं, जिसका अर्थ है—इच्छानुसार वन्दन करने की सम्मति देना।

गुरुदेव की तरफ से उपर्युक्त पद्धति के द्वारा वन्दन करने की आज्ञा मिल जाने पर शिष्य आगे बढ़कर, अवग्रहक्षेत्र के बाहर, किन्तु पास ही 'अवग्रह-प्रवेशाज्ञा-याचना' नामक दूसरे स्थान में पुनः अर्द्धावनत होकर नमन करता है और गुरुदेव से 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' इस पाठ के द्वारा अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा मांगता है। आज्ञा मांगने पर गुरुदेव अपनी ओर से 'अणुजाणामि' कहकर आज्ञा प्रदान करते हैं।

आज्ञा मिलने के बाद 'यथाजात मुद्रा' अर्थात् दीक्षा अंगीकार करते समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है, वैसी, दोनों हाथ अंजलिबद्ध कपाल (मस्तक) पर रखने की मुद्रा से 'निसीहि-निसीहि' पद कहते हुए अवग्रह में प्रवेश करना चाहिये। बाद में रजोहरण से भूमि प्रमार्जन कर, गुरुदेव के

पास उकड़ू अर्थात् गोदुहासन से बैठकर प्रथम के तीन आवर्त 'अहो-कायं-काय' पूर्वोक्त विधि के अनुसार करके 'संफासं' कहते हुए गुरु-चरणों में मस्तक लगाना चाहिये।

तत्पश्चात् 'खमणिज्जो भे किलामो' पाठ के द्वारा चरण-स्पर्श करते समय गुरुदेव को जो बाधा होती है, उसकी क्षमा माँगी जाती है। तदनन्तर 'अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ?' कहकर दिवस संबंधी कुशलक्षेम पूछा जाता है। फिर गुरु भी 'तथा' कहकर अपने शिष्य का कुशलक्षेम पूछते हैं।

अनन्तर शिष्य 'ज त्ता भे' 'ज व णि' 'ज्जं च भे'—इन तीनों आवर्तों की क्रिया करे एवं संयम-यात्रा तथा शरीर संबंधी शांति पूछे। उत्तर में गुरुदेव भी शिष्य से उसकी यात्रा और यापनीय सम्बन्धी सुख-शान्ति पूछें। इसके बाद 'आवस्सियाए' कहते हुए अवग्रह से बाहर आना चाहिये।

प्रस्तुत पाठ में जो 'बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो' में 'दिवसो वइक्कंतो' पाठ है, उसके स्थान में रात्रि-प्रतिक्रमण के समय 'राई वइक्कंता', पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खो वइक्कंतो,' चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चाउम्मासी वइक्कंता' तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'संवच्छरो वइक्कंतो' ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

समवायांग सूत्र के १२वें समवाय में वन्दन के स्वरूप का प्ररूपण करते हुए भगवान् महावीर ने वन्दन की २५ विधियां बतलाई हैं—

दुओणयं जहाजायं, कितिकम्मं बारसावयं।
चउसिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एग निक्खमणं॥

अर्थात्—दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुप्ति, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण—इस प्रकार कुल पच्चीस आवश्यक हैं।

आवश्यक-क्रिया में तीसरे वन्दन आवश्यक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरुदेव को विनम्र हृदय से वन्दन करना तथा उनकी दिन तथा रात्रि सम्बन्धी सुख-शान्ति पूछना शिष्य का परम कर्तव्य है, क्योंकि अरिहन्तों के पश्चात् गुरुदेव ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति हैं, उनको वन्दन करना भगवान् को वन्दन करने के समान है। वन्दन करने से विनम्रता आती है। प्राचीन भारत में प्रस्तुत विनय के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है। कहा भी है—'विणयो जिण-सासणमूलम्' अर्थात् विनय जिनशासन का मूल है। जैनसिद्धान्तदीपिका में कहा है—'अनाशातना बहुमानकरणं च विनयः।' अशातना नहीं करना तथा बहुमान करना विनय है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ—जावणिज्जाए—शक्ति की अनुकूलता से, शक्ति के अनुसार। **निसीहियाए**—सावद्य व्यापार की निवृत्ति से। **अणुजाणह**—अनुमति दीजिये। **मिउग्गहं**—मितअवग्रह अर्थात् गुरु महाराज जहाँ विराजमान हों, उसके चारों ओर की साढे तीन हाथ चौड़ी भूमि। **अहो कायं**—अधःकाय—शरीर का भाग, चरण। **कायसंफासं**—काय अर्थात् हाथ से, (चरणों का) सम्यक् स्पर्श। **खमणिज्जो**—क्षमा के योग्य। **भे**—आपके द्वारा। **अप्पकिलंताणं**—शारीरिक श्रम या बाधा से रहित। 'अप्प' (अल्प) शब्द यहाँ 'अभाव' का वाचक है। **वइक्कंतो**—व्यतीत हुआ। **जत्ता**—संयम रूप यात्रा। **जवणिज्जं**—(यापनीयम्) इन्द्रियादि की बाधा से रहित। **वइक्कमं**—अतिचार।

आवस्सिया—अवश्य करने योग्य चरण-करण रूप क्रिया। **आसायणा**—अवज्ञा, अनादर। **तेत्तीसन्न-यराए**—तेतीस प्रकार (की आशातना) में से कोई भी। **सव्वकालियाए**—सर्व-भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल संबंधी। **सव्वमिच्छोवयाराए**—सर्वागत: मिथ्या उपचारों से युक्त।

आशातनाएँ तेतीस है, वे इस प्रकार है—

१. शैक्ष (नवदीक्षित या अल्प दीक्षा-पर्याय वाला) साधु रात्निक (अधिक दीक्षा पर्याय वाले) साधु के अति निकट होकर गमन करे। यह शैक्ष की (शैक्ष द्वारा की गई) पहली आशातना है।

२. शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे गमन करे। यह शैक्ष की दूसरी आशातना है।

३. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बराबरी से चले। यह शैक्ष की तीसरी आशातना है।

४. शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे खड़ा हो। यह शैक्ष की चौथी आशातना है।

५. शैक्ष साधु रात्निक साधु के बराबरी से खड़ा हो। यह शैक्ष की पांचवी आशातना है।

६. शैक्ष साधु रात्निक साधु के अति निकट खड़ा हो। यह शैक्ष की छठी आशातना है।

७. शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे बैठे। यह शैक्ष की सातवीं आशातना है।

८. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बराबरी से बैठे। यह शैक्ष की आठवीं आशातना है।

९. शैक्ष साधु रात्निक साधु के अति समीप बैठे। यह शैक्ष की नवीं आशातना है।

१०. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बाहर विचार भूमि को निकलता हुआ यदि शैक्ष रात्निक साधु से पहले आचमन (शौच-शुद्धि) करे तो यह शैक्ष की दसवी आशातना है।

११. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बाहर विचार भूमि को या विहार भूमि को निकलता हुआ यदि शैक्ष रात्निक साधु से पहले आलोचना करे और रात्निक पीछे करे तो यह शैक्ष की ग्यारहवीं आशातना है।

१२. कोई साधु रात्निक साधु के साथ पहले से बात कर रहा हो, तब शैक्ष साधु रात्निक साधु से पहले ही बोले और रात्निक साधु पीछे बोल पावे। यह शैक्ष की बारहवी आशातना है।

१३. रात्निक साधु रात्रि में या विकाल में शैक्ष से पूछे कि आर्य! कौन सो रहे हैं और कौन जाग रहे हैं? यह सुनकर भी शैक्ष अनसुनी करके कोई उत्तर न दे तो यह शैक्ष की तेरहवीं आशातना है।

१४. शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष के सामने आलोचना करे पीछे रात्निक साधु के सामने, तो यह शैक्ष की चौदहवीं आशातना है।

१५. शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को दिखलावे पीछे रात्निक साधु को दिखावे, तो यह शैक्ष की पन्द्रहवीं आशातना है।

१६. शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को भोजन के लिये निमंत्रण दे और पीछे रात्निक साधु को निमंत्रण दे, तो यह शैक्ष की सोलहवी आशातना है।

१७. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार को लाकर रात्निक साधु से बिना पूछे जिस किसी को दे, तो यह शैक्ष की सत्तरहवीं आशातना है।

१८. शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार लाकर रात्निक साधु के साथ भोजन करता हुआ यदि उत्तम भोज्य पदार्थों को जल्दी-जल्दी बड़े-बड़े कवलों से खाता है, तो यह शैक्ष की अठारहवीं आशातना है।

१९. रात्निक साधु द्वारा कुछ कहे जाने पर यदि शैक्ष उसे अनसुनी करता है, तो यह शैक्ष की उन्नीसवीं आशातना है।

२०. रात्निक साधु के द्वारा कुछ कहे जाने पर यदि शैक्ष अपने स्थान पर बैठे हुए सुनता है, तो यह शैक्ष की बीसवीं आशातना है।

रात्निक साधु के द्वारा कुछ कहे जाने पर यदि शैक्ष अपने स्थान पर बैठे हुए सुनता है, तो यह शैक्ष की बीसवीं आशातना है।

२१. रात्निक साधु के द्वारा कुछ कहे जाने पर 'क्या कहा' इस प्रकार से यदि शैक्ष कहे तो यह शैक्ष की इक्कीसवीं आशातना है।

२२. शैक्ष रात्निक साधु को 'तुम' कह कर (तुच्छ शब्द से) बोले तो यह शैक्ष की बाईसवीं आशातना है।

२३. शैक्ष रात्निक साधु से यदि चप-चप करता हुआ उद्दंडता से बोले तो यह शैक्ष की तेईसवीं आशातना है।

२४. शैक्ष, रात्निक साधु के कथा करते हुए की 'जी, हां' आदि शब्दों से अनुमोदना न करे तो यह शैक्ष की चोबीसवीं आशातना है।

२५. शैक्ष रात्निक द्वारा धर्मकथा करते समय 'तुम्हे स्मरण नहीं' इस प्रकार से बोले तो यह शैक्ष की पच्चीसवीं आशातना है।

२६. शैक्ष रात्निक के द्वारा धर्मकथा करते समय 'बस करो' इत्यादि कहे तो यह शैक्ष की छब्बीसवीं आशातना है।

२७. शैक्ष रात्निक के द्वारा धर्मकथा करते समय यदि परिषद् को भेदन करे, तो यह शैक्ष की सत्ताईसवीं आशातना है।

२८. शैक्ष रात्निक साधु के धर्मकथा कहते हुए उस सभा के नहीं उठने पर दूसरी या तीसरी बार भी उसी कथा को कहे, तो यह शैक्ष की अट्ठाईसवीं आशातना है।

२९. शैक्ष यदि रात्निक साधु के शय्या संस्तारक को पैर से ठुकरावे, तो यह शैक्ष की उनतीसवीं आशातना है।

३०. शैक्ष यदि रात्निक साधु के शय्या या आसन पर खड़ा होता, बैठता-सोता है, तो यह यह शैक्ष की तीसवीं आशातना है।

३१, ३२. शैक्ष यदि रात्निक साधु से ऊंचे या समान आसन पर बैठता है, तो यह शैक्ष की आशातना है।

३३. रात्निक के कुछ कहने पर शैक्ष अपने आसन पर बैठा-बैठा उत्तर दे, यह शैक्ष की तेतीसवीं आशातना है।

विवेचन—नवीन दीक्षित साधु का कर्तव्य है कि वह अपने आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधु का चलते, उठते, बैठते समय उनके द्वारा कुछ पूछने पर, गोचरी करते समय, सदा ही उनके विनय-सम्मान का ध्यान रखे। यदि वह अपने इस कर्तव्य में चूकता है, तो उनकी आशातना करता है और अपने मोक्ष के साधनों को खंडित करता है। इसी बात को ध्यान में रखकर ये तेतीस आशातनाएँ कही गई हैं। प्रकृत सूत्र में चार आशातनाओं का निर्देश कर शेष की यावत् पद से सूचना की गई है। उनका दशाश्रुतस्कंध के अनुसार स्वरूप-निरूपण किया गया है।

॥ तृतीय आवश्यक सम्पन्न ॥

[४]

चतुर्थ अध्ययन : प्रतिक्रमण

अतिचारों का पाठ

पहिली इरियासमिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी छ काया का जीव जोइने न चाल्यो होऊं, क्षेत्र थकी साढ़ा तीन हाथ प्रमाणे जोइने न चाल्यो होऊं, काल थकी दिन को देखे बिना रात को पूंजे बिना चाल्यो होऊं, भाव थकी उपयोग सहित जोइने न चाल्यो होऊं, गुण थकी संवरगुण पहिली इरियासमिति के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

दूसरी भाषा समिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी भाषा कर्कशकारी, कठोरकारी, निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेदकारी, भेदकारी, परजीव को पीड़ाकारी, सावज्ज सव्वपापकारी कूडी मिश्रभाषा बोल्यो होऊं, क्षेत्र थकी रस्ते चालतां बोल्यो होऊं, काल थकी पहर रात्रि गया पीछे गाढ़े गाढ़े शब्द बोल्यो होऊं, भाव थकी रागद्वेष से बोल्यो होऊं, गुण थकी संवर गुण, दूसरी भाषा समिति के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय संबंधि तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

तीसरी एषणा समिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी सोले उद्गमण का दोष, सोले उत्पात का दोष, दश एषणा का दोष इन बयालीस दोष सहित आहार पाणी लायो होऊं, क्षेत्र थकी दो कोश उपरांत ले जाई ने भोगव्यो होय काल थकी पहेला पहर को छेला पहर में भोगव्यो होऊं, भाव थकी पांच मांडला का दोष न टाल्या होय गुण थकी संवर गुण, तीसरी एषणा समिति के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय, तो देवसिय संबन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

चौथी आयाणभंडमत्तनिक्खेवणा समिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी भाण्डोपकरण अजयणा से लीधा होय, अजयणा से रख्या होय, क्षेत्र थकी गृहस्थ के घर आंगणे रख्या होय, काल थकी कालोकाल पडिलेहणा न की होय, भाव थकी ममता मूर्छा सहित भोगव्या होय, गुण थकी संवर गुण, चौथी समिति के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।४।।

पांचवी उच्चार-पासवण-खेल, जल्ल-सिंघाण-परिट्ठावणिया समिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी ऊंची नीची जगह परठव्यो होय, क्षेत्र थकी गृहस्थ के घर आंगणे परठव्यो होय, भावथकी जाता आवसही आवसही न करी होय, परिठवते पहले शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा नहीं ली होय, थोड़ी पूंजी ने घणो परिठव्यो होय, परठने के बाद तीन वार वोसिरे वोसिरे न किन्हो होय, आवता निःसही न करी होय, ठिकाणे आई ने काउसग्ग न कर्यो होय, गुणथकी

संवर गुण पांचवी समिति के विषय जो कोई पाप दोप लाग्यो होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥५॥

मनगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, आरंभ समारंभ, विपय कषाय के विषय खोटो मन प्रवर्ताव्यो होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।१।

वचनगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, वचन आरंभ, सारंभ, समारंभ, राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भत्तकथा इन चार कथा में से कोई कथा की होय नो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।२।

काया गुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, काया आरंभ, सारंभ समारंभ, बिना पूज्या अजयणापणे असावधानपणे, हाथ पग पसारया होय, संकोच्या होय, विना पूंज्यां भीतादिक को ओटींगणो (सहारा) लीधो होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।३।

पृथ्वीकाय में मिट्टी, मरड़ो, खड़ी, गेरु, हिंगलू, हड़ताल, हड़मची, लूण, भोडल पत्थर इत्यादि पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।१।

अप्काय में ठार को पाणी, ओस को पाणी, हिम को पाणी, घड़ा को पाणी, तलाव को पाणी, निवाण को पाणी, संकाल को पाणी, मिश्र पाणी, वर्षाद को पाणी इत्यादि अप्काय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

तेउकाय में खीरा, अंगीरा, भोभल भड़साल, झाल, टूटती झाल, विजली, उल्कापात इत्यादि तेउकाय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

वाउकाय में उक्कलियावाय, मंडलियावाय, घणवाय, घणगूंजवाय तणवाय, शुद्धवाय, सपटवाय, वींजणे करी, तालिकरी, चमरीकरी इत्यादि वाउकाय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

वनस्पतिकाय में हरी तरकारी, बीज अंकुश, कण, कपास, गुम्मा, गुच्छा, लत्ता, लीलण, फूलण इत्यादि वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

बेइन्द्रिय में लट, गिंडोला, अलसिया शंख, संखोलिया, कोडी, जलोक इत्यादि बेन्द्रिय जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

तेइन्द्रिय में कीड़ी मकोड़ी, जूं, लींख, चांचण, माकण, गजाई, खजूरीया उधई, धनेरिया इत्यादि तेइन्द्रिय जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

चतुरिन्द्रिय में तीड, पतंगिया, मक्खी, मच्छर, भंवरा, तिगोरी, कसारी, बिच्छु इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

पंचेन्द्रिय में जलचर थलचर, खेचर, उरपर, भुजपर सन्नी असन्नी, गर्भज, समुर्च्छिम, पर्याप्ता अपर्याप्ता इत्यादि पंचेन्द्रिय जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

पहिला महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, (१) इन्दथावरकाय (२) वम्भथावरकाय (३) सिप्पथावरकाय (४) सम्मतीथावरकाय (५) पायावच्चथावरकाय (६) जंगमकाय द्रव्य से इनकी हिंसा की होय, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जावजीव तक भाव से तीन करण तीन योग से महाव्रत के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

दूसरा महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, कोहा वा, लोहा वा, हासा वा, क्रीड़ा कुतूहलकारी द्रव्य से झूठ बोल्यो होऊं, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जावजीव तक, भाव से तीन करण तीन योग से दूसरा महाव्रत के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

तीसरा महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, कामराग, दृष्टिराग देवता सम्बन्धी, मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी द्रव्य से काम भोग सेव्या, होय, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जावजीव तक, भाव से तीन करण तीन योग से चौथा महाव्रत के विषय कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

पांचवां महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊं, सचित्त परिग्रह, अचित्त परिग्रह, मिश्र परिग्रह, द्रव्य से छति वस्तु पर मूर्छा की होय, पर वस्तु की इच्छा की होय, सुई कुसग धातु मात्र परिग्रह राख्यो होय, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जावजीव तक, भाव से तीन करण तीन योग से पांचवां महाव्रत के विषय जो कोई दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

छट्ठा रात्रि भोजन के विषय जो कोई अतिचार होय तो आलोऊं, चार आहार असणं, पाणं, खाइयं, साइमं, सीत मात्र, लेपमात्र, रातवासी राख्यो होय, रखायो होय, राखता प्रत्ये भलो जाण्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अठारह पाप (१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति अरति (१७) मायामोसो (१८) मिथ्यादर्शनशल्य ये अट्ठारह पाप सेव्या होय, सेवाया होय, सेवता प्रत्ये भलो जाण्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

पांच मूलगुण महाव्रत के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । इस उत्तर गुण पचक्खाण के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । तेतीस आशातना में गुरु की, बड़ों की कोई भी आशातना हुई हो तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

शय्यासूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं, पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए, संथाराउव्वट्टणाए, परियट्टणाए, आउंटणाए, पसारणाए, छप्पईसंघट्टणाए, कूइए, कक्कराइए, छीए, जंभाइए, आमोसे ससरक्खामोसे

आउलमाउलाए, सोवणवत्तियाए, इत्थीविप्परियासियाए[1] दिट्ठिविप्परियासियाए, मणविप्परिया-सियाए, पाण-भोयण- विप्परियासियाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

भावार्थ—मैं शयन संबंधी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। शयन काल में यदि देर तक सोता होऊँ या वार-वार वहुत काल तक सोता रहा होऊँ, अयतना के साथ एक वार करवट ली हो, या वार-वार करवट वदली हो, हाथ और पैर आदि अंग अयतना से समेटे हों तथा पसारे हों, षट्पदी—जूं आदि क्षुद्र जीवों को कठोर स्पर्श के द्वारा पीड़ा पहुँचाई हो, विना यतना के अथवा जोर से खांसा हो, यह शय्या वड़ी कठोर है, आदि शय्या के दोष कहे हों, अयतना से छींक एवं जंभाई ली हो, विना पूंजे शरीर को खुजलाया हो अथवा किसी भी वस्तु का स्पर्श किया हो, सचित्त रजयुक्त वस्तु का स्पर्श किया हो—(ये सव शयनकालीन जागते समय के अतिचार हैं।)

अव सोते समय स्वप्न-अवस्था सम्वन्धी अतिचार कहे जाते हैं—स्वप्न में युद्ध, विवाहादि के अवलोकन से आकुलता-व्याकुलता रही हो, स्वप्न में मन भ्रान्त हुआ हो, स्वप्न में स्त्री के साथ कुशील सेवन किया हो, स्त्री आदि को अनुराग की दृष्टि से देखा हो, मन में विकार आया हो, स्वप्न-दशा में रात्रि में आहार-पानी का सेवन किया हो या सेवन करने की इच्छा की हो, इस प्रकार मेरे द्वारा शयन संवंधी जो भी अतिचार किया हो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' अर्थात् वह सव मेरा पाप निष्फल हो।

विवेचन—हमारी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश जड़ से आवद्ध-प्रतिवद्ध है। प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर कर्मकीट के अनन्त पटल लगे हैं और उस कर्म-कालिमा से आत्मा कलुषित वनी हुई है। जव तक कर्म-कालिमा वनी रहेगी, तव तक जन्म-मरण रोग-शोक और संयोग-वियोगादि दुःख भी वने रहेंगे। अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है। आत्म-वद्ध कर्म-कीट को हटाकर आत्मा को निर्मल शुद्ध वनाने से ही दुःख-परम्परा नष्ट हो सकती है। 'जलविन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः' की उक्ति के अनुसार वूंद-वूंद से घट भर जाता और पाई-पाई जोड़ते हुए तिजोरी भर जाती है। धर्म-साधना के लिये भी ठीक यही वात है।

यद्यपि सभी धर्मप्रवर्तकों एवं प्रचारकों ने अपनी अपनी दृष्टि से धर्मसाधना के लिए अनिवार्य विवेक का विवेचन किया है, फिर भी जितना सूक्ष्म एवं भावपूर्ण विवेचन एवं विश्लेषण जैनागमों में किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं। जैन संस्कृति की प्रत्येक क्रिया विवेकमय है। दशवै-कालिक सूत्र में कहा है—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ।।

जो साधक यतना से चलता है, यतना से खड़ा होता है, यतना से वैठता है, यतना से सोता है' यतना से भोजन करता और वोलता है, वह पाप कर्म का वन्ध नहीं करता।

साधारण से साधारण साधक भी छोटी-छोटी साधनाओं पर लक्ष्य देता रहे, विवेक-यतना को विस्मृत न करे तो एक दिन वह वहुत ऊंचा साधक वन सकता है और इसके विपरीत साधारण-सी

१. स्त्री साधक 'इत्थीविप्परियासिआए' के स्थान पर 'पुरिसविप्परियासियाए' पढ़ें।

भूलों की उपेक्षा करते रहने से तथा विवेक नहीं रखने से उच्चतर श्रेणी के साधक का भी अधःपतन हो सकता है। यही कारण है कि जैन आचारशास्त्र सूक्ष्म भूलों पर भी ध्यान रखने की ओर इंगित करता है।

प्रस्तुत सूत्र शयन सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण करने के लिये हैं। सोते समय जो भी शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक किसी भी प्रकार की भूल हुई हो, संयम का अतिक्रमण किया हो, किसी भी प्रकार का भाव-विपर्यास हुआ हो, उस सबके लिये पश्चात्ताप करने का -'मिच्छा मि दुक्कडं' देने का विधान प्रस्तुत शय्या-सूत्र में किया गया है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ—पगामसिज्जाए—का संस्कृत रूप 'प्रकामशय्या' होता है। प्रकाम-शय्या का अर्थ है—मर्यादा से अधिक सोना। **निगामसिज्जाए**—वार-वार अधिक काल तक सोते रहना, निकामशय्या है। **कूइए**—खांसते हुए। **कक्कराइए**—'कर्करायित' शब्द का अर्थ है—कुड़कुड़ाना। शय्या विषम हो या कठोर हो तो साधु को समता एवं शान्ति के साथ उसका सेवन करना चाहिये। साधक को शय्या के दोष कहते हुए कुड़कुड़ाना-वड़वड़ाना नहीं चाहिये। **आमोसे**—प्रमार्जन किए विना शरीर या अन्य वस्तु का स्पर्श करना। **ससरक्खामोसे**—सचित्त रज से युक्त वस्तु को छूना। **आउलमाउलाए**—आकुलता-व्याकुलता से, **सोवणवत्तियाए**—स्वप्न के प्रत्यय-निमित्त से।

प्रस्तुत शय्या-सूत्र को, जव भी साधक सोकर उठे, अवश्य पढ़ना चाहिये। इसे निद्रा-दोषनिवृत्ति का पाठ भी कहा जाता है। यह पाठ पढ़कर वाद में एक लोगस्स अथवा चार लोगस्स का पाठ भी पढ़ना चाहिये।

भिक्षादोष-निवृत्ति सूत्र

पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए, भिक्खायरियाए उग्घाडकवाड-उग्घाडणाए, साणावच्छा-दारासंघट्टणाए, मंडी-पाहुडियाए, वलिपाहुडियाए, ठवणापाहुडियाए, संकिए, सहसागारे, अणेसणाए, पाणेसणाए पाणभोयणाए, वीयभोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए, अदिट्ठहडाए, दगसंसट्ठहडाए, रयसंसट्ठहडाए, पारिसाडणियाए, पारिट्ठावणियाए, ओहासण-भिक्खाए, जं उग्गमेणं, उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं परिग्गहियं, परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

भावार्थ—गोचरचर्या रूप भिक्षाचर्या में, यदि ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी रूप में जो भी अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

अर्ध खुले किवाड़ों को खोलना, कुत्ते वछड़े और वच्चों का संघट्टा—स्पर्श करना, मण्डी-प्राभृतिक अग्रपिण्ड लेना, वलिप्राभृतिका—वलि के लिए तैयार किया हुआ भोजन लेना, अथवा साधु के आने पर वलिकर्म करके दिया हुआ भोजन लेना, स्थापनाप्रभृतिका—भिक्षुओं को देने के उद्देश्य से अलग रक्खा हुआ भोजन लेना, आधाकर्म आदि की शंका वाला आहार लेना, सहसाकार—विना सोचे-विचारे शीघ्रता से आहार लेना, विना एषणा—छान-वीन किए लेना, पान-भोजन-पानी आदि पीने योग्य वस्तु की एषणा में किसी प्रकार की त्रुटि करना, जिसमें कोई प्राणी हो, ऐसा भोजन लेना,

बीजभोजन-बीजों वाला भोजन लेना, हरित-भोजन—सचित्त वनस्पत्ति वाला भोजन, पश्चात्-कर्म—साधु को आहार देने के बाद तदर्थ सचित्त जल से हाथ या पात्रों को धोने आदि के कारण लगने वाला दोष, पुरःकर्म—साधु को आहार देने से पहले सचित्त जल से हाथ या पात्र धोने आदि से लगने वाला दोष, अदृष्टाहृत—बिना देखा लाया भोजन लेना, उदकसंसृष्टाहृत—सचित्त जल के साथ स्पर्श वाली वस्तु लेना, सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना, पारिशाटनिका—देते समय मार्ग में गिरता-बिखरता हुआ दिया जाने वाला आहार लेना, पारिष्ठापनिका—आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुए किसी भोजन को डालकर दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना, अथवा बिना कारण 'परठने-योग्य' कालातीत अयोग्य वस्तु ग्रहण करना। बिना कारण माँगकर विशिष्ट वस्तु लेना, उद्गम—आधाकर्म आदि १६ उद्गम दोषों से युक्त भोजन लेना, उत्पादन—धात्री आदि १६ साधु की तरफ से लगने वाले उत्पादना दोषों सहित आहार लेना। एषणा-ग्रहणैषणा संबंधी शंकित आदि १० दोषों से सहित आहार लेना।

उपर्युक्त दोषों वाला अशुद्ध-साधुमर्यादा के विपरीत आहार-पानी ग्रहण किया हो, ग्रहण किया हुआ भोग लिया हो, किन्तु दूषित जानकर भी परठा न हो, तो मेरा समस्त पाप मिथ्या हो।

विवेचन—जैन धर्म अहिंसाप्रधान धर्म है। अहिंसक करुणा का सागर, दया का आगार, सद्भावना का सरोवर, सरसता का स्रोत तथा अनुकम्पा का उत्स होता है। वह प्रत्येक साधना में उपयोग-सावधानी रखता है। तथा साधना की प्रगति के लिए खान-पान, आचार-विचार, आहार-विहार की विशुद्धि को बड़ा महत्त्व देता है।

संयमसाधना के लिए मानव जीवन आवश्यक है और जीवन को टिकाये रहने के लिये आहार-पानी का सेवन अनिवार्य है। आहार-पानी आरम्भ-समारंभ के बिना तैयार नहीं होता और साधु आरंभ समारंभ का त्यागी होता है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाए ? जैनागमों में इस समस्या का बहुत ही सुन्दर समाधान किया गया है। प्रस्तुत पाठ उसी समाधान का बोधक है। प्रथम तो यह कि साधु भिक्षावृत्ति से जीवननिर्वाह करे और भिक्षावृत्ति में भी निर्दोष आहार ग्रहण करे। उसे जिन दोषों से बचना है, वे दोष इस पाठ में प्रतिपादित किए गए हैं।

जैन भिक्षु के लिए नवकोटि-परिशुद्ध आहार ग्रहण करने का विधान किया गया है। नवकोटि इस प्रकार हैं—न स्वयं भोजन पकाना, न अपने लिए दूसरों से कहकर पकवाना, न पकाते हुए का अनुमोदन करना। न खुद बना-बनाया खरीदना, न अपने लिए दूसरों से खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना। न स्वयं किसी को पीड़ा देना, न दूसरे से पीड़ा दिलवाना और न पीड़ा देने वाले का अनुमोदन करना। इस प्रकार जैन धर्म में बहुत सूक्ष्म अहिंसा की मर्यादा का ध्यान रक्खा गया है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ—गोचरचर्या—अर्थात् जिस प्रकार गाय वन में एक घास का तिनका जड़ से न उखाड़ कर, ऊपर से ही खाती हुई घूमती—आगे बढ़ जाती है और अपनी क्षुधानिवृत्ति कर लेती है, इसी प्रकार मुनि भी किसी गृहस्थ को पीड़ा न देता हुआ थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करके अपनी क्षुधानिवृत्ति करता है। दशवैकालिक सूत्र में इसके लिए मधुकर अर्थात् भ्रमर की उपमा दी है। भ्रमर भी फूलों को बिना कुछ हानि पहुँचाए थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता हुआ, आत्मतृप्ति कर लेता है।

कपाटोद्घाटन—गृहस्थ के घर के द्वार के वंद किवाड़ खोलकर आहार-पानी लेना सदोष है, क्योंकि विना प्रमार्जन किए कपाट-उद्घाटन से जीव-विराधना की सम्भावना रहती है। इस प्रकार घर में प्रवेश करके आहार लेने से साधक की असभ्यता भी प्रतीत होती है, क्योंकि गृहस्थ अपने घर के अन्दर किसी विशेष कार्य में संलग्न हो और साधु अचानक किवाड़ खोलकर अन्दर जाए तो यह उचित नहीं है। यह उत्सर्ग मार्ग है। यदि किसी विशेष कारण से आवश्यक वस्तु लेनी हो तथा यतनापूर्वक किवाड़ खोलने हों तो स्वयं खोले अथवा किसी अन्य से खुलवाये जा सकते हैं। यह अपवाद मार्ग है।

मंडीप्राभृतिका—अर्थात् अग्रपिंड लेना। तैयार किए हुए भोजन के कुछ अग्र-अंश को पुण्यार्थ निकाल कर जो रख दिया जाता है, वह अग्रपिंड कहलाता है।

वलिप्राभृतिका—देवी-देवता आदि की पूजा के लिए तैयार किया हुआ भोजन वलि कहलाता है। ऐसा आहार लेना साधु को नहीं कल्पता है।

संकिए—आहार लेते समय भोजन के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भी आधाकर्मादि दोष की आशंका से युक्त; ऐसा आहार कदापि नहीं लेना चाहिये।

सहसाकार—'उतावला सो वावला' शीघ्रता में कार्य करना, क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर दोनों ही दृष्टियों से अहितकर है।

अदृष्टाहृत—गृहस्थ के घर पर पहुंच कर साधु को जो भी वस्तु लेनी हो, वह जहां रक्खी हो, स्वयं अपनी आँखों से देखकर लेनी चाहिये। विना देखे ही किसी वस्तु को ग्रहण करने से अदृष्टाहृत दोष लगता है। भाव यह है कि देय वस्तु न मालूम किसी सचित्त वस्तु पर रक्खी हुई हो! अत: उसके ग्रहण करने से जीव-विराधना दोष लग सकता है। अतएव विना देखे किसी भी वस्तु को लेना ग्राह्य नहीं है।

अवभाषण भिक्षा—भोजन में किसी विशिष्ट वस्तु की याचना करना।

स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना दोषनिवृत्ति सूत्र

पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए, उभओ कालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए, अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए, अइक्कमे, वइक्कमे, अइयारे, अणायारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हूं। यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर रूप चारों कालों में स्वाध्याय न किया हो, प्रात: तथा सन्ध्या दोनों काल में वस्त्र-पात्र आदि भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो अथवा सम्यक्-प्रकार से प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो, अथवा विधिपूर्वक प्रमार्जना न की हो, इन कारणों से अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार लगा हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या—निष्फल हों।

विवेचन—

(प्र.) कालपडिलेहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ.) कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

हे भगवन् ! काल की प्रतिलेखना करने से क्या फल होता है ?

काल की प्रतिलेखना से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है और ज्ञान गुण की प्राप्ति होती है।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९

उपर्युक्त सूत्र काल-प्रतिलेखना का है। आगम में कथन है कि दिन के पूर्व भाग तथा उत्तर भाग में, इसी प्रकार रात्रि के पूर्व भाग तथा उत्तर भाग में, अर्थात् दिवस एवं रात्रि के चारों कालों में नियमित स्वाध्याय करना चाहिये। साथ ही वस्त्र पात्र रजोहरण आदि की प्रतिलेखना भी आवश्यक है। यदि प्रमादवश उक्त दोनों आवश्यक कर्तव्यों में भूल हो जाय तो उसकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करने का विधान है।

प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने, टिकाये रखने, नष्ट करने और संयुक्त को वियुक्त तथा वियुक्त को संयुक्त करने में काल का महत्त्वपूर्ण योग है। अत: जीवन की प्रगति के प्रत्येक अंग को आलोकित रखने के लिए काल की प्रतिलेखना करना अर्थात् काल का ध्यान रखना अतीव आवश्यक है। जिस काल में जो क्रिया करनी चाहिये उस काल में वही क्रिया की जानी चाहिये। इसीलिये उत्तराध्ययन सूत्र में शास्त्रकार ने साधुओं के लिए कालक्रम (Time Table) निर्धारित कर दिया है। साथ ही यह भी निर्दिष्ट कर दिया है—'काले कालं समायरे'—अर्थात् प्रत्येक कार्य नियत समय पर ही करना चाहिये। दिवस और रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर स्वाध्याय के लिए निश्चित किया गया है। इस प्रकार अहोरात्र में स्वाध्याय के चार काल हैं।

स्वाध्याय परम तप है। नवीन ज्ञानार्जन के लिए, अर्जित ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए तथा ज्ञानावरण कर्म की निर्जरा के लिए स्वाध्याय ही एक सबल साधन है। स्वाध्याय की एक बड़ी विशेषता है—चित्त की एकाग्रता। स्वाध्याय से चंचल चित्त की दौड़धूप रुक जाती है और वह केन्द्रित हो जाता है। यही कारण है कि उसके लिए चार प्रहर नियत किए गए हैं।

स्थानांगसूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने स्वाध्याय का अर्थ करते हुए लिखा है—भलीभांति मर्यादा के साथ अध्ययन करना स्वाध्याय है—'सुष्ठु आमर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय:'

—स्थानांग २ स्था. १३०

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दन वन की उपमा दी है। जिस प्रकार नन्दन वन में प्रत्येक दिशा के भव्य से भव्य दृश्य मन को आनन्दित करने के लिए होते हैं, वहां जाकर मानव सब प्रकार के कष्टों को भूल जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय रूप नन्दन वन में भी एक से एक सुन्दर एवं शिक्षाप्रद दृश्य देखने को मिलते हैं, तथा मन दुनियावी झंझटों से मुक्त होकर एक अलौकिक लोक में विचरण करने लगता है। स्वाध्याय हमारे अन्धकारपूर्ण जीवनपथ के लिए दीपक के समान है।

प्रतिलेखना—

साधु के पास जो भी वस्त्र पात्र आदि उपधि हो, उसकी प्रात:काल एवं सायंकाल प्रतिलेखना करनी होती है। उपधि को बिना देखे पूंजे उपयोग में लाने से हिंसा का दोष लगता है। शास्त्रोक्त समय पर स्वाध्याय या प्रतिलेखना न करना, शास्त्रनिषिद्ध समय पर करना स्वाध्याय

एवं प्रतिलेखना पर श्रद्धा न रखना तथा इस सम्बन्ध में मिथ्या प्ररूपणा करना, या उचित विधि से न करना आदि स्वाध्याय एवं प्रतिलेखन रूप अतिचार-दोष हैं।

यह काल-प्रतिलेखना सूत्र स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन करने के बाद पढ़ना चाहिये।

प्रस्तुत पाठ में आये हुए अतिक्रम आदि का अर्थ इस प्रकार है—

१. **अतिक्रम**—गृहीत व्रत या प्रतिज्ञा को भंग करने का विचार करना।
२. **व्यतिक्रम**—व्रतभंग के लिए उद्यत होना।
३. **अतिचार**—आंशिक रूप से व्रत को खंडित करना।
४. **अनाचार**—व्रत को पूर्ण रूप से भंग करना।

तेतीस बोल का पाठ

पडिक्कमामि एगविहे असंजमे। पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं-रागबंधणेणं, दोस-बंधणेणं।
पडिक्कमामि तिहिं दंडेहिं-मणदंडेणं, वयदंडेणं, कायदंडेणं।
पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं-मणगुत्तीए, वयगुत्तीय, कायगुत्तीए।
पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं-मायासल्लेणं, नियाणसल्लेणं, मिच्छादंसणसल्लेणं।
पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं—इड्ढीगारवेणं, रसगारवेणं, सायागारवेणं।
पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं—नाणविराहणाए, दंसणविराहणाए, चरित्तविराहणाए।

भावार्थ—अविरति रूप एकविध असंयम का आचरण करने से जो भी अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

दो प्रकार के बन्धनों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ। दो प्रकार के बन्धन हैं—१. रागबन्धन एवं २. द्वेषबन्धन।

तीन प्रकार के दण्डों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन दण्ड—

१. मनोदण्ड, २. वचन-दण्ड एवं ३. कायदण्ड।

तीन प्रकार की गुप्तियों से अर्थात् उनका आचरण करते हुए प्रमादवश जो भी गुप्तियों सम्बन्धी विपरीताचरणरूप दोष लगे हों, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन गुप्ति-मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति।

तीन प्रकार के शल्यों से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन शल्य—माया-शल्य, निदान-शल्य और मिथ्या-दर्शन-शल्य।

तीन प्रकार के गौरव—अभिमान से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन गौरव—१. आचार्य आदि पद की प्राप्ति रूप ऋद्धि का अहंकार ऋद्धि-गौरव। २. मधुर आदि रस की प्राप्ति का अभिमान रस-गौरव तथा ३. साता-गौरव—साता का अर्थ है आरोग्य एवं शारीरिक सुख। आरोग्य, शारीरिक सुख तथा वस्त्र, पात्र शयनासन आदि सुख-साधनों के मिलने पर अभिमान करना और न मिलने पर उनकी आकांक्षा करना साता-गौरव है।

तीन प्रकार की विराधनाओं से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। वे इस प्रकार हैं—

१. ज्ञान की तथा ज्ञानी की निंदा करना, ज्ञानार्जन में आलस्य करना, अकाल स्वाध्याय करना आदि ज्ञानविराधना है।

२. सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्वधारी साधक की विराधना करना दर्शनविराधना है।

३. अहिंसा सत्य आदि चारित्र का सम्यक् पालन न करना, उसमें दोप लगाना चारित्र-विराधना है।

पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं— कोहकसाएणं, माणकसाएणं, मायाकसाएणं, लोभ-कसाएणं।

पडिक्कमामि चउहिं सन्नाहिं—आहारसन्नाए, भयसन्नाए, मेहुण-सन्नाए, परिग्गह-सन्नाए।

पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं—इत्थी-कहाए, भत्त-कहाए, देसकहाए, रायकहाए।

पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं—अट्टेणं झाणेणं, रुद्देणं झाणेणं, धम्मेणं झाणेणं, सुक्केणं झाणेणं।

भावार्थ—कषायसूत्र—चार-कषायों के द्वारा होने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ। चार कषाय—क्रोधकपाय, मानकषाय, मायाकपाय और लोभकपाय।

संज्ञासूत्र—चार प्रकार की संज्ञाओं के द्वारा जो अतिचार-दोप लगा, उसका प्रतिक्रमण करता हूं। चार संज्ञाएँ—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह-संज्ञा।

विकथा-सूत्र—स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा ओर राज-कथा, इन चार विकथाओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

ध्यान-सूत्र—आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के करने से तथा धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं—काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, पारितावणियाए, पाणाइवायकिरियाए।

पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं—सद्देणं, रूवेणं, गंधेणं, रसेणं, फासेणं।

पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं—इरियासमिईए, भासा-समिईए, एसणा-समिईए, आयाण-भंडमत्तनिक्खेवणासमिईए, उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिट्ठावणियासमिईए।

भावार्थ—**क्रिया-सूत्र**—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणाति-पातिकी, इन पांचों क्रियाओं के करने से जो भी अतिचार लगा हो उनका प्रतिक्रमण करता हूँ।

काम-गुण-सूत्र—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांचों कामगुणों के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

महाव्रत-सूत्र—सर्वप्राणातिपात-विरमण—अहिंसा, सर्व-मृपावाद-विरमण—सत्य, सर्व-अदत्तादानविरमण—अस्तेय, सर्व-मैथुन-विरमण—ब्रह्मचर्य, सर्व-परिग्रह-विरमण—अपरिग्रह, इन पांचों महाव्रतों में कोई भी अतिचार-दोप लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

समिति-सूत्र—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एपणासमिति, आदान-भाण्डमात्र-निक्षेपणा-समिति, उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, इन पांचों समितियों का सम्यक् पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं—पुढविकाएणं, आउकाएणं, तेउकाएणं, वाउकाएणं, वणस्सइकाएणं, तसकाएणं।

पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं—किण्ह-लेसाए, नील-लेसाए, काउ-लेसाए, तेउ-लेसाए, पउम-लेसाए, सुक्क-लेसाए।

जीवनिकाय-सूत्र—पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छहों जीव-निकायों की हिंसा करने से जो अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

लेश्या-सूत्र—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, और शुक्ल-लेश्या, इन छहों लेश्याओं के द्वारा अर्थात् प्रथम तीन अधर्म लेश्याओं का आचरण करने से और अन्त की तीन धर्मलेश्याओं का आचरण न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

पडिक्कमामि सत्तहिं भयठाणेहिं,
अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं,
नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं,
दसविहे समणधम्मे—
एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं,
बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं,
तेरसहिं किरियाठाणेहिं,
चउद्दसहिं भूयगामेहिं,
पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं,
सोलसहिं गाहासोलसएहिं,
सत्तरसविहे असंजमे,
अट्ठारसविहे अबंभे,
एगूणवीसाए नायज्झयणेहिं,
वीसाए असमाहिठाणेहिं—
इक्कवीसाए सबलेहिं, बावीसाए परीसहेहिं, तेवीसाए
सूयगडज्झयणेहिं, चउवीसाए देवेहिं, पणवीसाए भावणाहिं,

छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं,
सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं
अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं ।
एगूणतीसाए पावसुयप्पसंगेहिं,
तीसाए महामोहणीयट्ठाणेहिं,
एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं,
बत्तीसाए जोग-संगहेहिं,
तेत्तीसाए आसायणाहिं—

१. अरिहंताणं आसायणाए, २. सिद्धाणं आसायणाए, ३. आयरियाणं आसायणाए, ४. उवज्झायाणं आसायणाए, ५. साहूणं आसायणाए, ६. साहुणीणं आसायणाए, ७. सावयाणं आसायणाए, ८. सावियाणं आसायणाए, ९. देवाणं आसायणाए, १०. देवीणं आसायणाए, ११. इह लोगस्स आसायणाए, १२. परलोगस्स आसायणाए, १३. केवलि-पन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए, १४. सदेव-मणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए, १५. सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए, १६. कालस्स आसायणाए, १७. सुअस्स आसायणाए, १८. सुयदेवयाए आसायणाए, १९. वायणायरियस्स आसायणाए, जं २०. वाइद्धं, २१. वच्चामेलियं, २२. हीणक्खरं, २३. अच्चक्खरं २४. पयहीणं, २५. विणयहीणं, २६. जोग-हीणं, २७. घोसहीणं, सुट्ठुदिन्नं, २८. दुट्ठुपडिच्छियं, ३०. अकाले कओ सज्झाओ, ३१. काले न कओ सज्झाओ, ३२. असज्झाइए सज्झाइयं, ३३. सज्झाए न सज्झाइयं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

भावार्थ—प्रतिक्रमण करता हूँ—सात भय के स्थानों अर्थात् कारणों से, आठ मद के स्थानों से, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से अर्थात् उनका सम्यक् पालन न करने से, दसविध क्षमा आदि श्रमण धर्म की विराधना से,

ग्यारह उपासक प्रतिमा—श्रावक की प्रतिज्ञाओं से अर्थात् उनकी अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से, बारह भिक्षु की प्रतिमाओं से—उनकी अश्रद्धा अथवा विपरीत प्ररूपणा से, तेरह क्रिया के स्थानों के सेवन से, चौदह जीवों के समूह से अर्थात् उनकी हिंसा से, पन्द्रह परमाधार्मिकों से अर्थात् उन जैसा भाव रखने या आचरण करने से, सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा अध्ययन सहित सोलह अध्ययनों से, सत्तरह प्रकार के असंयम में रहने से, अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य में वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों से अर्थात् उनकी विपरीत श्रद्धा प्ररूपणा करने से, बीस असमाधि के स्थानों से,

इक्कीस शबलों से, बाईस परिषहों से अर्थात् उनको सहन न करने से, सूत्रकृतांग सूत्र के तेईस अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से या विपरीत श्रद्धा-प्ररूपणा करने से, चौबीस देवों से अर्थात् उनकी अवहेलना करने से, पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं (का यथावत् पालन न करने) से, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार—उक्त सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देशन कालों से,

सत्ताईस साधु के गुणों से, आचारप्रकल्प-आचारांग तथा निशीथ सूत्र के अट्ठाईस अध्ययनों से, उनतीस पापश्रुत के प्रसंगों से, महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों से,

सिद्धों के इकतीस आदि या सर्वोत्कृष्ट गुणों से, बत्तीस योगसंग्रहों से, तेतीस आशातनाओं से, यथा—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, देव, देवी, इहलोक, परलोक, केवलि-प्ररूपित धर्म, देव-मनुष्य-असुरों सहित समग्र लोक, समस्त प्राण—विकलत्रय, भूत—वनस्पति, जीव—पंचेन्द्रिय, सत्त्व—पृथ्वीकाय आदि चार स्थावर, तथैव काल, श्रुत-शास्त्र, श्रुत-देवता वाचनाचार्य—इन सबकी आशातना, से,

तथा व्याविद्ध—सूत्र के पाठों को या सूत्र के अक्षरों को आगे-पीछे किया हो, व्यत्याम्रेडित—शून्य-चित्त से कई वार पढ़ता ही रहा हो, अन्य सूत्र का पाठ अन्य सूत्र में मिलाया हो, अक्षर छोड़कर पढ़ा हो, अत्यक्षर—अक्षर बढ़ा दिये हों, पदहीन पढ़ा हो, शास्त्र एवं शास्त्राध्यापक का समुचित विनय न किया हो, घोषहीन—उदात्तादि स्वरों से रहित पढ़ा हो, योगहीन—उपधानादि तपोविशेष के विना अथवा उपयोग के विना पढ़ा हो, सुष्ठुदत्त—अधिक ग्रहण करने की योग्यता न रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, दुष्ठुप्रतीच्छित—वाचनाचार्य के द्वारा दिए हुए आगमपाठ को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, अकाल-स्वाध्याय—कालिक, उत्कालिक सूत्रों को उनके निषिद्ध काल में पढ़ा हो, काल-अस्वाध्याय—विहित काल में सूत्रों को न पढ़ा हो, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय किया हो, स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो।

इस प्रकार श्रुतज्ञान की चौदह आशातनाओं से सब मिलाकर तेतीस आशातनाओं से जो भी अतिचार लगा हो, तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत-पाप मिथ्या हो।

विवेचन—असंयमसूत्र—असंयम, संयम का विरोधी है। असंयम ही समस्त सांसारिक दुःखों का मूल है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले राग-द्वेष रूप कषाय आदि भावों का नाम असंयम है। लोभ एवं तृष्णा ये मन की दुष्ट वृत्तियां हैं। इन वृत्तियों पर जो संयम नहीं रखता है, अथवा नियंत्रण नहीं रखता है वह इनका दास है, गुलाम है। वह कभी आत्म-विजेता नहीं बन सकता। अतः आत्मविजेता बनने के लिए आत्म-संयम परम आवश्यक है। जो आत्म-संयम नहीं रख सकता, अपने मन एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित नहीं करता, वह इच्छाओं के वशीभूत होकर कभी शांति-समाधि नहीं पा सकता और इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त हैं। उनकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। शास्त्रकार कहते हैं—'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।'

—उत्तराध्ययन सू. अ. ९

यद्यपि संयम के १७ भेद होने से उसके विरोधी असंयम के भी १७ भेद हैं और विस्तार की विवक्षा से अन्य भेद भी हो सकते हैं, जो आगे गिनाए भी गए हैं। किन्तु सामान्यग्राही संग्रहनय की अपेक्षा से यहाँ एक ही प्रकार कहा गया है।

बन्धनसूत्र—

प्रस्तुत सूत्र में राग-द्वेष को बन्धन कहा है। राग-द्वेष के द्वारा अष्टविध कर्मों का बन्ध होता है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति चारित्र-मोह के उदय से होती है तथा चारित्र-मोह संयम-जीवन का दूषक एवं घातक है। जब तक राग-द्वेष की मलिनता है, तब तक चारित्र की शुद्धता किसी भी तरह नहीं हो सकती।

राग-द्वेष दो बीज हैं, कर्मबन्ध की व्याध।
ज्ञानातम वैराग्य से, पावै मुक्ति समाध॥
—वृहदालोयणा (रणजीतसिंह कृत)

जिसके द्वारा आत्मा कर्म से रंगा जाता है, वह मोह की परिणति राग है तथा किसी के प्रति शत्रुता, घृणा, क्रोध आदि दुर्भावना द्वेष है। चार कषायों में से क्रोध और मान को द्वेष में तथा माया और लोभ को राग में परिगणित किया गया है।

दण्डसूत्र—

आत्मा की जिस अशुभ प्रवृत्ति से आत्मा दंडित होता है अर्थात् दुःख का पात्र बनता है, वह दण्ड कहलाता है। दण्ड तीन प्रकार के हैं—१. मनोदण्ड, २. वचनदण्ड और ३. कायदण्ड।

१. मनोदण्ड—१. विषाद करना, २. क्रूरतापूर्ण विचार करना, ३. व्यर्थ कल्पनाएँ करना, ४. मन का इधर-उधर बिना प्रयोजन भटकना, ५. अपवित्र विचार रखना, ६. किसी के प्रति घृणा, द्वेष आदि करना मनोदण्ड है। इनकी अशुभ प्रवृत्तियों से आत्मा २४ दण्डकों में दण्डित होता है।

२. वचनदण्ड—१. असत्य बोलना, २. अन्य की निंदा, चुगली करना, ३. कड़वा बोलना, ४. अपनी प्रशंसा करना, ५. निरर्थक या निष्प्रयोजन बोलना, ६. सिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपणा करना आदि।

३. कायदण्ड—१. किसी को पीडा पहुंचाना. २. अनाचार का सेवन करना, ३. किसी की वस्तु चुराना, ४. अभिमान से अकड़ना, ५. व्यर्थ इधर-उधर डोलना, ६. असावधानी से चलना आदि।

इन्हीं तीनों के माध्यम से आत्मा अशुभ प्रवृत्तियां करके दंडित होता है—२४ दण्डकों में भटकता हुआ क्लेशों का भाजन बनता है, अतएव ये दंड कहलाते हैं।

गुप्तिसूत्र—

गुप्ति—अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति करना गुप्ति है। अथवा संसार के कारणों से आत्मा की सम्यक् प्रकार से रक्षा करना, तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा आगन्तुक कर्मरूपी कचरे को रोकना गुप्ति है। गुप्ति तीन प्रकार की है—१. मनोगुप्ति, २. वचनगुप्ति, ३. कायगुप्ति।

मनोगुप्ति—आर्त्त तथा रौद्र ध्यान विषयक मन से संरंभ, समारंभ तथा आरंभ संबंधी संकल्प-विकल्प न करना, धर्म-ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना मनोगुप्ति है।

मनगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से आरम्भ-समारम्भ में मन न प्रवर्तावे, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जीवन पर्यन्त ओर भाव से विषय-कषाय, आर्त्त-रौद्र, राग-द्वेष में मन न प्रवर्तावे।

वचनगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से चार प्रकार की विकथा न करना, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जीवन-पर्यन्त, भाव से सावद्य वचन न बोलना।

कायगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से शरीर की शुश्रूपा न करे, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जीवन पर्यन्त, भाव से सावद्य योग न प्रवर्ताना।

शल्यसूत्र—

माया, निदान और मिथ्यादर्शन, ये तीनों दोप आगम की भापा में शल्य कहलाते हैं। जिसके द्वारा अन्तर पीड़ा सालती रहती हो, कसकती रहती हो वह तीर, कांटा आदि द्रव्य शल्य हैं। माया आदि भाव शल्य हैं। आचार्य हरिभद्र के अनुसार शल्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— "शल्यतेऽनेनेति शल्यम्।" आध्यात्मिक क्षेत्र में माया, निदान और मिथ्या-दर्शन को शल्य इसलिए कहा कि जिस प्रकार शरीर के किसी भाग में कांटा, कील तथा तीर आदि तीक्ष्ण वस्तु घुस जाए तो वह मनुष्य को क्षुब्ध बना देती है, उसी प्रकार अन्तर में रहा हुआ सूत्रोक्त शल्यत्रय भी साधक की अन्तरात्मा को सालता रहता है। तीनों ही शल्य तीव्र कर्म-बन्ध के हेतु हैं।

१. **मायाशल्य**—माया का अर्थ है कपट। माया एक तीक्ष्ण धारवाली असि है जो आपसी स्नेह-सम्बन्ध को क्षण भर में ही काट देती है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—'माया मित्ताणि नासेइ' अर्थात् मायाचार करने से मित्रों—मैत्रीभाव का विनाश होता है।

२. **निदानशल्य**—धर्माचरण के सांसारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना निदानशल्य है।

३. **मिथ्यादर्शनशल्य**—सत्य पर श्रद्धा न लाना एवं असत्य का कदाग्रह रखना मिथ्या-दर्शनशल्य है। इस प्रकार तीनों शल्यों से होने वाले दोपों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

गौरव सूत्र एवं विराधना सूत्र—

आचार्य आदि की पदप्राप्ति रूप ऋद्धिगौरव, मधुर आदि प्रिय रस की प्राप्ति का अभिमान रूप रसगौरव तथा शारीरिक आदि सुखप्राप्ति से होने वाले अभिमान रूप सातागौरव के कारण, एवं ज्ञान की अर्थात् जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाएँ उस ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना, चारित्र की विराधना, इन तीन विराधनाओं के कारण जो कोई अतिचार किया गया हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

गौरव का अर्थ है गुरुत्व—भारीपन। गौरव दो प्रकार का है १. द्रव्यगौरव, २. भावगौरव। पत्थर आदि की गुरुता द्रव्यगौरव है और अभिमान एवं लोभ के कारण होने वाला आत्मा का अशुभ भाव भावगौरव है।

किसी भी प्रकार का दोप न लगाते हुए चारित्र का विशुद्ध रूप से पालन करना आराधना है और इसके विपरीत ज्ञानादि आचार का सम्यक् रूप से आराधन न करना, उनमें दोष लगाना विराधना है।

कपायसूत्र—

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाव-वड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो॥ —दशवै. सू. अ. ८

अर्थात्-अपनी आत्मा का हित चाहने वाले साधक को पाप बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारों कषायों का त्याग कर देना चाहिये।

आत्मा का कषायों द्वारा जितना अहित होता है, उतना किसी भी अन्य शत्रु द्वारा नहीं होता। कषाय कर्मबन्ध के प्रबल कारण हैं। यही आत्मा को संसार-भ्रमण कराते हैं। कषाय के द्वारा जिसकी आत्मा कलुषित है, उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का समावेश नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे काले कंबल पर दूसरा कोई रंग नहीं चढ़ता। आत्मा के उत्थान तथा पतन के मूल कारण कषाय हैं। कषायों के तीव्र उद्रेक से आत्मा अधःपतन के गहरे गर्त्त में गिरती जाती है, क्योंकि कषायों का मन पर अधिकार हो जाने पर उनके विरोधी सभी सद्गुण एक-एक करके लुप्त हो जाते हैं—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेई, लोभो सव्वविणासणो॥
उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जव-भावेणं, लोभं संतोसओ जिणे॥

—दशवैकालिक, अ. ८।३८,३९

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है तथा लोभ समस्त सद्गुणों का नाश करता है।

क्षमा से क्रोध को, विनय से अर्थात् मृदुता से मान को, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को जीतना चाहिये।

संज्ञा-सूत्र—

जीवों की इच्छा को संज्ञा कहते हैं। संज्ञा का अर्थ 'चेतना' भी होता है। प्रस्तुत में मोहनीय एवं असाता वेदनीय कर्म के उदय से जब चेतनाशक्ति विकारयुक्त हो जाती है तब वह 'संज्ञा' पदवाच्य होती है।

श्रीपन्नवणा सूत्र के आठवें पद में संज्ञा के दस प्रकार बताए हैं।[1] अनेक सूत्रों में सोलह भेद भी प्ररूपित किए गए हैं। मूल भेद चार हैं—१. आहार, २. भय, ३. मैथुन, ४. परिग्रह।

१. आहार-संज्ञा—आहारसंज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है। यथा—१. पेट खाली होने से, २. क्षुधा वेदनीय के उदय से, ३. आहार को देखने से और ४. आहार सम्बन्धी चिन्तन करने से।

२. भय-संज्ञा—भयसंज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है—१. अधैर्य रखने से, २. भय-मोह के उदय से, ३. भय उत्पन्न करने वाले पदार्थ को देखने से, ४. भय का चिन्तन करने से। भय मोहनीय के उदय से आत्मा में जो त्रास का भाव उत्पन्न होता है, वह भय मोहनीय है।

---

१. आहार संज्ञा, २. भय संज्ञा, ३. मैथुन संज्ञा, ४. परिग्रह संज्ञा, ५. क्रोध संज्ञा, ६. मान संज्ञा, ७. माया संज्ञा, ८. लोभ संज्ञा, ९. लोक संज्ञा, १०. ओघ संज्ञा।

३. मैथुन-संज्ञा—वेद-मोहोदय का संवेदन मैथुन संज्ञा कहलाती है। वह भी चार कारणों से उत्पन्न होती है—१. शरीर पुष्ट बनाने से, २. वेदमोहनीय कर्मोदय से, ३. स्त्री आदि को देखने से और ४. काम-भोग का चिंतन करने से।

४. परिग्रह-संज्ञा—लोभ-मोहनीय के उदय से मनुष्य की संग्रहवृत्ति या मूर्छा जागृत होती है वह परिग्रह-संज्ञा है। उसके भी चार कारण हैं—१. ममत्व बढ़ाने से, २. लोभमोहनीय के उदय से, ३. धन-सम्पत्ति देखने से और ४. धन परिग्रह का चिन्तन करने से।

विकथा-सूत्र—

संयम को दूषित करने वाले एवं निरर्थक वार्तालाप को विकथा कहते हैं। स्त्रीकथा, भक्त-कथा, देशकथा तथा राजकथा रूप चार विकथाओं के कारण जो कुछ अतिचार लगा हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ। (नारी साधिका के लिये 'पुरुषकथा' बोलना चाहिये)।

१. स्त्रीकथा—अमुक देश, जाति, कुल की अमुक स्त्री सुन्दर अथवा कुरूप होती है। वह बहुत सुन्दर वस्त्राभूषण पहनती है। गाना भी बहुत सुन्दर गाती है। इत्यादि विचार से ब्रह्मचर्य आदि व्रतों में दोष लगने की संभावना होने से इसको अतिचार का हेतु माना गया है।

२. भक्तकथा—'भक्तकथा' आवाप, निर्वाप, आरम्भ एवं निष्ठान के भेद से चार प्रकार की है।

आवाप—अमुक रसोई में इतना घी, इतना शाक, इतना मसाला ठीक रहेगा।

निर्वाप—इतने पकवान थे, इतना शाक था, मधुर था, इस प्रकार देखे हुए भोज्य पदार्थ की कथा करना।

आरम्भ—अमुक रसोई में इतने शाक और फल आदि की जरूरत रहेगी, इत्यादि।

निष्ठान—अमुक भोज्य पदार्थों में इतने रुपये लगेंगे आदि।

३. देशकथा—देशों की विविध वेश-भूषा, श्रृंगार-रचना, भोजनपद्धति, गृह-निर्माणकला, रीति-रिवाज आदि की प्रशंसा या निंदा करना देशकथा है।

४. राजकथा—राजाओं की सेना, रानियों, युद्ध-कला, भोग-विलास आदि का वर्णन करना, राजकथा कहलाती है। राजकथा चार प्रकार की है—१. अतियान, २. निर्याण, ३. बल-वाहन, ४. कोष।

ध्यान-सूत्र

पवन रहित अर्थात् निर्वात स्थान में स्थिर दीप-शिखा के समान निश्चल, अन्य विषयों के संकल्प से रहित केवल एक ही विषय का चिन्तन ध्यान कहलाता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर अध्यवसान एवं मन की एकाग्रता ध्यान है। वीतराग के मन का अभाव होने के कारण योग-निरोध ही उनका ध्यान होता है।[1]

ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का होता है। आर्त तथा रौद्र अप्रशस्त ध्यान हैं, अतः हेय—त्याज्य हैं। धर्म तथा शुक्ल प्रशस्त ध्यान हैं—आचरणीय हैं।

---

१. अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं, जोगणिरोहो जिणाणंति ॥

आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यक चूर्णि के प्रतिक्रमणाध्ययन में इसी प्रसंग पर एक गाथा उद्धृत की है—

हिंसाणुरंजितं रौद्रं, अट्टं कामाणुरंजितं।
धम्माणुरंजियं धम्मं, सुक्लज्झाणं निरंजणं ॥

अर्थात्—काम से अनुरंजित ध्यान आर्त कहलाता है। हिंसा से रंगा हुआ ध्यान रौद्र है, धर्म से अनुरंजित ध्यान धर्मध्यान है और शुक्लध्यान पूर्ण निरंजन होता है।

१. आर्तध्यान—आर्ति का अर्थ दुःख, व्यथा, कष्ट या पीड़ा होता है। आर्ति के निमित्त से जो ध्यान होता है, वह आर्तध्यान कहलाता है। अनिष्ट वस्तु के संयोग से, इष्ट वस्तु के वियोग से, रोग आदि के कारण तथैव भोगों की लालसा से मन में जो एक प्रकार की विकलता-सी अर्थात् पीड़ा-सी होती है और जब वह एकाग्रता का रूप धारण करती है तब आर्तध्यान कहलाती है।

२. रौद्रध्यान—हिंसा आदि अत्यन्त क्रूर विचार रखने वाला व्यक्ति रुद्र कहलाता है। रुद्र व्यक्ति के मनोभावों को रौद्रध्यान कहा जाता है। अथवा छेदन, भेदन, दहन, बन्धन, मारण, प्रहरण, दमन, कर्तन आदि के कारण राग-द्वेष का उदय हो और दया न हो ऐसे आत्म-परिणाम को रौद्रध्यान कहते हैं।[1]

३. धर्मध्यान—वीतराग की आज्ञा रूप धर्म से युक्त ध्यान को धर्म्यध्यान कहते हैं। अथवा-आगम के पठन, व्रतधारण, बन्ध-मोक्षादि, इन्द्रिय दमन तथा प्राणियों पर दया करने के चिन्तन को धर्मध्यान कहते हैं।[2]

४. शुक्लध्यान—कर्म मल को शोधन करने वाला तथा शोक को दूर करने वाला ध्यान शुक्लध्यान है।[3] धर्मध्यान, शुक्लध्यान का साधन है। कहा भी है—'जिसकी इन्द्रियाँ विषय-वासना रहित हों, संकल्प-विकल्पादि दोष युक्त जो तीन योग उनसे रहित महापुरुष के ध्यान को 'शुक्लध्यान' कहते हैं।[4]

---

१. संछेदनैर्दहन-भञ्जन-मारणैश्च,
    बन्ध-प्रहार-दमनैर्विनिकृन्तनैश्च ॥
  रागोदयो भवति येन न चानुकम्पा,
    ध्यानं तु रौद्रमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥

२. सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु,
    बन्धप्रमोक्षगमनागमहेतुचिन्ता।
  पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते,
    ध्यानं तु धर्म्यमिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥

३. शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्। —आचार्य नमि।

४. यस्येन्द्रियाणि विषयेषु पराङ्मुखानि,
  संकल्पकल्पनविकल्पविकारदोषैः।
  योगैस्तथा त्रिभिरहो! निभृतान्तरात्मा,
  ध्यानं तु शुक्लमिदमस्य समादिशन्ति ॥

क्रियासूत्र

जैन परिभाषा के अनुसार प्रस्तुत प्रकरण में हिंसाप्रधान दुष्ट व्यापार-विशेष को 'क्रिया' कहते हैं। विस्तार-पद्धति में क्रिया के २५ भेद माने गये हैं। परन्तु अन्य समस्त क्रियाओं का सूत्रोक्त पांच क्रियाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अतः मूल क्रियाएं पांच ही मानी जाती हैं।

१. कायिकीक्रिया—काय के द्वारा होने वाली क्रिया कायिकी कहलाती है। इसके तीन भेद माने गये हैं। मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यक्-दृष्टि की क्रिया अविरत-कायिकी कहलाती है, प्रमत्तसंयमी मुनि की क्रिया दुष्प्रणिहित-कायिकी और अप्रमत्तसंयत मुनि की क्रिया सावद्ययोग से उपरत होने के कारण उपरतकायिकी कहलाती है।

२. आधिकरणिकीक्रिया—जिसके द्वारा आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी होता है, वह पाप का साधन खड्गादि या दुर्मंत्रादि का अनुष्ठान-विशेष अधिकरण कहलाता है, उससे होने वाली क्रिया।

३. प्राद्वेषिकीक्रिया—प्रद्वेष का अर्थ मत्सर, डाह, ईर्ष्या होता है। यह अकुशल परिणाम कर्म-बन्ध का प्रबल कारण माना जाता है। अतः जीव या अजीव किसी भी पदार्थ पर द्वेषभाव रखना, प्राद्वेषिकीक्रिया है।

४. पारितापनिकीक्रिया—ताड़न आदि के द्वारा दिया जाने वाला दुःख परितापन कहलाता है। परितापन से निष्पन्न होने वाली क्रिया, पारितापनिकी क्रिया कहलाती है। स्व तथा पर के भेद से पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की होती है। अपने आपको परिताप पहुंचाना स्वपारितापनिकी और अन्य प्राणी को परिताप पहुंचाना पर-पारितापनिकी क्रिया है।

५. प्राणातिपातिकीक्रिया—प्राणों का अतिपात या विनाश प्राणातिपात कहलाता है। प्राणातिपात से होने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी कहलाती है। इसके दो भेद हैं—क्रोधादि कषायवश होकर अपनी हिंसा करना, स्वहस्त-प्राणातिपातिकी क्रिया है और इसी प्रकार दूसरे की हिंसा करना, पर-प्राणातिपातिकी है।

कामगुण-सूत्र—

प्रस्तुत सूत्र में उल्लेख है कि यदि संयम-यात्रा करते हुए कहां कामगुण अर्थात् पांच इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, इन विषयों में मन भटक गया हो, तटस्थता को छोड़ राग-द्वेष युक्त हो गया हो, मोह जाल में फंस गया अर्थात् इष्ट शब्दादि में राग और अनिष्ट में द्वेष उत्पन्न हुआ हो तो उसे वहां से हटाकर पुनः संयम-पथ पर अग्रसर करना चाहिये। यही कामगुणों से आत्मा का प्रतिक्रमण है।

महाव्रत-सूत्र—

साधु हिंसा, असत्य, अदत्तादान, आदि का सर्वथा त्याग करता है अर्थात् अहिंसा आदि महाव्रतों की नवकोटि से सदा सर्वथा पूर्ण आराधना करता है, फलतः साधु के अहिंसा आदि व्रत महाव्रत कहलाते हैं।

महाव्रत साधु के पांच मूलगुण कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त शेष आचार उत्तरगुण कहलाते हैं। उत्तरगुणों की उपयोगिता मूलगुणों की रक्षा में है, स्वयं स्वतन्त्र उनका कोई प्रयोजन नहीं। महाव्रत तीन करण और तीन योग से ग्रहण किये जाते हैं। जीवन पर्यन्त किसी भी

प्रकार की हिंसा न स्वयं करना, न दूसरे से कराना, न करने वालों का अनुमोदन करना, मन से, वचन से और काय से, यह अहिंसा महाव्रत है। इसी प्रकार असत्य, स्तेय, मैथुन एवं परिग्रह आदि के त्याग के सम्बन्ध में भी नव कोटि की प्रतिज्ञा का भाव समझ लेना चाहिये।

विशेष ज्ञातव्य—

प्रस्तुत महाव्रत सूत्र के पश्चात् प्रायः सभी प्राप्त प्रतियों और आवश्यक सूत्र के टीकाग्रन्थों में समिति सूत्र का उल्लेख मिलता है। परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर ने लिखा है—'एत्थ केवि अण्णं पि पठन्ति' अर्थात् यहाँ कुछ आचार्य दूसरे पाठ भी पढ़ते हैं। यथा—पांच आश्रव, पांच संवरद्वार, पांच निर्जराद्वार आदि।[1]

समिति-सूत्र—

सर्वथा जीव हिंसा से निवृत्त मुनि की आवश्यक निर्दोष प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। उत्तम परिणामों की चेष्टा को भी समिति कहते हैं। समिति आगमों का एक सांकेतिक शब्द है। समिति का अर्थ है—विवेक-युक्त होकर प्रवृत्ति करना। समिति पांच प्रकार की है—

१. ईर्यासमिति—कार्य उत्पन्न होने पर विवेकपूर्वक गमन करना तथा दूसरे जीवों को किसी प्रकार की हानि न हो, इस प्रकार उपयोगपूर्वक चलना ईर्यासमिति है।

२. भाषासमिति—आवश्यकता होने पर निर्दोष वचन की प्रवृत्ति करना, अर्थात् हित, मित, सत्य एवं स्पष्ट वचन कहना भाषासमिति है।[2]

३. एषणासमिति—आहारादि सम्बन्धी बयालीस दोषों को टालकर निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना, ५ मण्डल सम्बन्धी दोष टाल कर भोगना एषणासमिति है।

४. आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणासमिति—वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि उपकरणों को उपयोग-पूर्वक ग्रहण करना एवं जीव रहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण करना-रखना आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणासमिति है।

५. पारिष्ठापनिकासमिति—मल, मूत्र, कफ, थूक, नासिकामल आदि या भुक्तशेष भोजन तथा भग्न पात्र आदि परठने योग्य वस्तु जीव रहित एकान्त स्थण्डिल-भूमि में परठना, जीवादि उत्पन्न न हों, एतदर्थ उचित यतनापूर्वक परठना पारिष्ठापनिकासमिति है।

जीवनिकाय-सूत्र—

'जीवनिकायं' शब्द जीव और निकाय इन दो शब्दों से बना है। जीव का अर्थ है—चेतन-प्राणी तथा निकाय का अर्थ है—राशि अर्थात् समूह। जीवों की राशि को जीवनिकाय कहते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस, ये छह निकाय हैं। इन छह निकायों में अर्थात् समूहों में समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में छहों जीवसमूहों में से किसी को किसी भी प्रकार की प्रमाद-वश पीड़ा पहुंचायी हो तो उसका प्रतिक्रमण किया गया है।

---

१. "पडिक्कमामि पंचहिं आसवदारेहिं—मिच्छत्त-अविरति-पमाद कसायजोगेहिं, पंचहिं अणासवदारेहिं—सम्मत्त-विरति-अप्पमाद-अकसायित्त—अजोगित्तेहिं, पंचहिं निज्जर-ठाणेहिं, नाण-दंसण-चरित्त-तव-संजमेहिं।"

२. "भाषासमितिर्नाम हितमितासंदिग्धार्थभाषणम्।" —आचार्य हरिभद्र।

लेश्या-सूत्र—

लेश्या का संक्षिप्त अर्थ है—मनोवृत्ति या विचार-तरंग। उत्तराध्ययनसूत्र, भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में लेश्या का विस्तार से तथा सूक्ष्म रूप से वर्णन किया गया है।

लेश्या की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदास महत्तर कहते हैं कि आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों के द्वारा शुभाशुभ कर्म का आत्मा के साथ संश्लेपण होता है, वे परिणाम लेश्या कहलाते हैं।[1] मन, वचन और काय रूप योग के परिणाम लेश्या पदवाच्य हैं। क्योंकि योग के अभाव में अयोगी केवली लेश्यारहित माने गए हैं। लेश्या के मुख्य भेद छह हैं—

१. कृष्ण-लेश्या—यह मनोवृत्ति सबसे जघन्य है। कृष्णलेश्या वाले के विचार अतीव क्षुद्र, क्रूर, कठोर एवं निर्दय होते हैं। अहिंसा, सत्य आदि से उन्हें घृणा होती है। इहलोक परलोक से एवं परलोक सम्बन्धी अनिष्ट परिणामों से वे नहीं डरते। उन्हें अपने सुख से मतलब होता है—दूसरों के जीवन का कुछ भी हो, इसकी चिन्ता नहीं रहती है। वे अतिशय क्रूर एवं पापी होते हैं।

२. नील-लेश्या—यह मनोवृत्ति पहली की अपेक्षा कुछ ठीक है परन्तु उपादेय यह भी नहीं। इस लेश्या वाला ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज एवं रसलोलुप होता है। अपने सुख में मस्त रहता है। परन्तु जिन प्राणियों के द्वारा सुख मिलता है, उनकी भी 'अजपोपण' न्याय के अनुसार कुछ सार-संभाल कर लेता है।

३. कापोत-लेश्या—यह मनोवृत्ति भी अप्रशस्त है इस लेश्या वाला व्यक्ति विचारने, बोलने और कार्य करने में वक्र होता है। कठोरभापी एवं अपने दोषों को ढँकने वाला होता है।

४. तेजो-लेश्या—यह मनोवृत्ति पवित्र है। इसके होने पर मनुष्य नम्र, विचारशील, दयालु एवं धर्म में अभिरुचि रखने वाला होता है। अपनी सुख-सुविधा को गौण करके दूसरों के प्रति अधिक उदार-भावना रखता है।

५. पद्म-लेश्या—पद्म लेश्या वाले मनुष्य का जीवन कमल के समान दूसरों को सुगन्ध देने वाला होता है। इस लेश्या वाले का मन शान्त, निश्चल एवं अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने वाला होता है। पाप से भय खाता है। मोह और शोक पर विजय प्राप्त करता है। वह मितभापी, सौम्य एवं जितेन्द्रिय होता है।

६. शुक्ल-लेश्या—यह मनोवृत्ति सबसे अधिक विशुद्ध होने के कारण शुक्ल कहलाती है। इस लेश्या वाला शरीर के निर्वाह के लिए आहार ग्रहण करता है। किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। राग-द्वेष की परिणति हटाकर वीतराग भाव धारण करता है। परम शुक्ललेश्या वाला आसक्तिरहित होकर सतत समभाव रखता है।

प्रथम की तीन लेश्याएं—कृष्ण, नील एवं कापोत त्याज्य हैं और अन्त की तीन लेश्याएं—तेजो, पद्म एवं शुक्ल उपादेय हैं। अन्तिम शुक्ललेश्या के बिना आत्म-विकास की पूर्णता का होना

---

१. 'लिश् संश्लेषणे, संश्लिष्यते आत्मा तैस्तैः परिणामान्तरैः। यथा श्लेषेण वर्ण-सम्बन्धो भवति एवं लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते। योग-परिणामो लेश्या, जम्हा अयोगिकेवली अलेस्सो।'

—आवश्यक-चूर्णि।

असंभव है। जीवन-शुद्धि के पथ में अधर्म लेश्याओं का आचरण किया हो और और धर्म लेश्याओं का आचरण न किया हो तो प्रस्तुत-सूत्र के द्वारा उसका प्रतिक्रमण किया जाता है।

भयादि-सूत्र—

भय से लेकर आशातना तक के वोल कुछ उपादेय हैं, कुछ ज्ञेय हैं, कुछ हेय हैं। भयस्थान के सात प्रकार हैं—

१. इहलोकभय—अपनी जाति के प्राणी से डरना इहलोकभय है। जैसे—मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यञ्च का तिर्यञ्च से डरना।

२. परलोकभय—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना परलोकभय है। जैसे—मनुष्य का देव से या तिर्यञ्च आदि से डरना।

३. आदानभय—चोर आदि द्वारा धन आदि छीने जाने का भय।

४. अकस्मात्भय—बिना कारण ही अचानक डर जाना।

५. आजीविकाभय—दुर्भिक्ष आदि में जीवन-यात्रा के लिये भोजन आदि की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से डरना।

६. मरणभय—मृत्यु से डरना।

७. अपयश-अश्लोकभय—अपयश की आशंका से डरना।

भयमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के उद्वेग रूप परिणाम-विशेष को भय कहते हैं। साधु को किसी भय के आगे अपने आपको नहीं झुकाना चाहिये। निर्भय रहना अर्थात् न स्वयं भयभीत होना और न दूसरों को भयभीत करना चाहिये। भय के द्वारा संयम-जीवन दूषित होता है, तदर्थ भय का प्रतिक्रमण किया जाता है।

आठ मदस्थान—

१. जातिमद—ऊंची एवं श्रेष्ठ जाति (मातृपक्ष) का अभिमान।
२. कुलमद—ऊंचे कुल (पितृपक्ष) का अभिमान।
३. बलमद—अपने बल का घमण्ड करना।
४. रूपमद—अपने रूप का, सौन्दर्य का अभिमान करना।
५. तपोमद—उग्र तपस्वी होने का गर्व करना।
६. श्रुतमद—शास्त्राभ्यास का अर्थात् पंडित होने का घमण्ड करना।
७. लाभप्रद—अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर लाभ का गर्व करना।
८. ऐश्वर्यमद—अपने प्रभुत्व का अहंकार।

विवेचन—ये आठ मद समवायांग सूत्र के उल्लेखानुसार हैं। गणधर गौतम ने श्रीमहावीर स्वामी से प्रश्न किया था—

माण-विजएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

हे भगवन् ! मान पर विजय पाने से जीव को किस लाभ की प्राप्ति होती है ?

भगवान् ने समाधान दिया—**"माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं नवं कम्मं न बंधई पुव्व-बद्धं च निज्जरेइ ।"** —उत्तरा. सू. अ. २९ ।

अर्थात्—मान पर विजय पाने से मृदुता प्राप्त होती है । नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा होती है ।

अहंकार से मनुष्य का दिमाग आसमान पर चढ़ जाता है और ऐसी स्थिति में नीचे ठोकर लगने पर शिर फटने की आशंका रहती है ।

जगत् में मान, गर्व, अभिमान को कुत्ते के समान माना गया है । जैसे कुत्ता प्रेम करने पर मुंह चाट कर अशुद्ध कर देता है और मारने पर काट खाता है, उसी तरह अहंकार का पोषण करने में अपयश का भागी बनना पड़ता है और जब अहंकार खंडित हो जाता है तो जीवन-लीला समाप्त होने की भी नौबत आ जाती है । इसलिए कहा है—

"मृत्योस्तु क्षणिका पीडा मान-खंडो पदे-पदे ।"

अर्थात्—मृत्यु की पीडा तो क्षणिक होती है, किन्तु मान-भंग होने की पीडा पद-पद पर कष्ट पहुंचाती है ।

नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियां—

ब्रह्मचर्य शरीर की शक्ति है । जीवन का परमोत्तम धन है । मन का मर्दन है । आत्मा का उत्थान है । व्रतों में उत्तम है । साधना की बुनियाद और धर्माराधना का आधार है । सफलता का साधन और शांति का स्रोत है । क्षमा का सागर और विनय का आगार है । सूत्रकृतांग सूत्र के छट्ठे अध्ययन में लिखा है—**'तवेसु वा उत्तम बंभचेरं'** अर्थात् ब्रह्मचर्य तपों में श्रेष्ठ है ।

ब्रह्मचर्य का अर्थ—

जीवो बंभो जीवम्मि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो ?
तं जाणं बंभचेरं, विमुक्क परदेहतित्तिस्स ।।

—भगवती आराधना ८१

अर्थात्—ब्रह्म अर्थात् आत्मा, आत्मा में चर्या मुनि की अर्थात् रमण करना ब्रह्मचर्य है ।

ब्रह्मचर्य धर्मसाधना का आधार है । इसकी साधना से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है । प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—'ब्रह्मचर्य धर्मरूपी पद्मसरोवर की पाल है । वह दया क्षमादि गुणों का आगार है एवं धर्म-शाखाओं का आधार है । ब्रह्मचारी की देव-नरेन्द्र पूजा करते हैं । यह संसार का मंगलमय मार्ग है ।

देव-दाणव-गंधव्वा जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करंति ते ।। —उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस तथा किन्नर आदि देवगण भी दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं ।

अमेरिकन ऋषि 'थोरो' ने कहा है—"ब्रह्मचर्य जीवन-वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा, पवित्रता, वीरता आदि अनेक उसके मनोहर फल हैं।" व्यास के शब्दों में—"ब्रह्मचर्य अमृत है।" जो मनुष्य ब्रह्मचर्य रूपी अमृत का आस्वादन कर लेता है, वह सदा के लिये अमर बन जाता है। ब्रह्मचर्य जीवन की विराट साधना है।

यदि साधना करते हुए कहीं भी प्रमादवश नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियों का अतिक्रमण किया हो तो उसका प्रस्तुत सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण किया जाता है।

ब्रह्मचर्य को भलीभांति सुरक्षित रखने के लिए नव गुप्तियां शास्त्रों में प्रतिपादित की गई हैं। संक्षेप में उनका आशय इस प्रकार है—

१. **विविक्त-वसति-सेवन**—स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न ठहरना।

२. **स्त्रीकथापरिहार**—स्त्रियों की कथा-वार्ता, सौन्दर्य आदि की चर्चा न करना।

३. **निषद्यानुपवेशन**—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस स्थान पर न बैठे।

४. **स्त्री-अंगोपांगादर्शन**—स्त्रियों के मनोहर अंग, उपांग न देखे। यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पड़ जाय तो उसी प्रकार सहसा हटा ले जैसे सूर्य की ओर से हटा ली जाती है।

५. **कुड्यान्तर-शब्दश्रवणादि-वर्जन**—दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, हास्य, रूप आदि न सुनें और न देखे।

६. **पूर्वभोगास्मरण**—पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।

७. **प्रणीत-भोजन-त्याग**—विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।

८. **अतिमात्र-भोजन-त्याग**—रूखा-सूखा भोजन भी अधिक मात्रा में न करे। आहार सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुसार आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो भाग पानी के लिए और एक भाग हवा के लिए छोड़ दे। शास्त्रानुसार पुरुष साधक का उत्कृष्ट आहार बत्तीस और नारी साधिका का अट्ठाईस कवल है। कवल का प्रमाण भी बता दिया गया है—मयूरी के अंडे जितना।

९. **विभूषा-परिवर्जन**—शरीर की विभूषा—सजावट न करे। इन नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियों में और क्षान्ति, मुक्ति, निर्लोभता, आर्जव (सरलता रखना), मार्दव (मान परित्याग), लाघव (द्रव्य भाव से लघुता), सत्य संयम तप ब्रह्मचर्य एवं त्याग, इस प्रकार दस प्रकार के यतिधर्म में जो कोई अतिचार लगा हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ—

देश-विरत श्रावक के अभिग्रहविशेष को प्रतिमा कहते हैं। देव और गुरु की उपासना करने वाला श्रमणोपासक होता है। जब उपासक प्रतिमाओं का आराधन करता है तब वह प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। ये प्रतिमाएँ ग्यारह हैं।

१. **दर्शनप्रतिमा**—इस प्रतिमा में श्रावक किसी भी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रख कर शुद्ध निरतिचार,. विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करता है। इसमें मिथ्यात्व-अतिचार का त्याग मुख्य है। यह प्रतिमा एक मास की होती है।

२. **व्रतप्रतिमा**—व्रती श्रावक सम्यक्त्व लाभ के पश्चात् व्रतों की साधना करता है। पांच अणुव्रत आदि व्रतों की प्रतिज्ञाओं को सम्यक् प्रकार से निभाता है। किन्तु सामायिक का यथासमय सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३. **सामायिकप्रतिमा**—इस प्रतिमा में सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत का पालन करता है, किन्तु पर्व दिनों में पौषधव्रत का सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह तीन मास की होती है।

४. **पौषधोपवास प्रतिमा**—पूर्वोक्त सभी नियमों के साथ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्ण पौषध उपवास सहित करता है। यह प्रतिमा चार मास की है।

५. **कायोत्सर्गप्रतिमा**—उपर्युक्त सभी व्रतों का भली-भांति पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा में निम्नोक्त नियमों को विशेष रूप से धारण करना होता है—

१. स्नान नहीं करना।
२. रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना।
३. धोती की लांग खुली रखना।
४. दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना।
५. रात्रि में मैथुन का परिमाण रखना।

इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक या दो अथवा तीन दिन, उत्कृष्ट पांच महीने तक किया जाता है। इसे नियमप्रतिमा भी कहा जाता है।

६. **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की कालमर्यादा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट छह मास की है।

७. **सचित्तत्यागप्रतिमा**—सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट सात मास की होती है।

८. **आरंभत्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा में स्वयं आरंभ नहीं करता, छह काय के जीवों की दया पालता है। इसकी कालमर्यादा जघन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास की है।

९. **प्रेष्यत्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा में दूसरों के द्वारा आरम्भ कराने का भी त्याग होता है। वह स्वयं आरम्भ नहीं करता, न दूसरों से करवाता है किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नहीं होता है। काल जघन्य एक, दो, तीन दिन है और उत्कृष्ट काल नौ मास है।

१०. **उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा में अपने निमित्त बनाया हुआ भोजन ग्रहण नहीं किया जाता है, उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग होता है। उस्तरे से सर्वथा शिरोमुण्डन करना होता है। गृह सम्बन्धी विषयों के पूछे जाने पर यदि जानता है तो 'जानता हूँ' और नहीं जानता है तो 'नहीं जानता हूँ' इतना मात्र कहे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की, उत्कृष्ट दस मास की होती है।

११. **श्रमणभूतप्रतिमा**—इस प्रतिमा का धारक श्रावक श्रमण तो नहीं किन्तु श्रमण सदृश होता है। साधु के समान वेश धारण करके और साधु के योग्य ही भाण्डोपकरण रखकर विचरता

है । शक्ति हो तो केशलुञ्चन करता है, अन्यथा उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता है । इसका काल जघन्य एक अहोरात्र अर्थात् एक दिन-रात और उत्कृष्ट ग्यारह मास होता है ।

उपासक का प्रचलित अर्थ श्रावक है और प्रतिमा का अर्थ—प्रतिज्ञा—अभिग्रह है । उपासक की प्रतिमा उपासकप्रतिमा कहलाती है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्रावक की प्रतिमाओं के काल-मान में कुछ मतभेद हैं । कुछ आचार्य इनका काल एक, दो, तीन यावत् ग्यारह मास का मानते हैं । जघन्य एक, दो, तीन दिवस आदि नहीं मानते ।

बारह भिक्षुप्रतिमा—

बारह भिक्षुप्रतिमाओं का यथाशक्ति आचरण न करना, उन पर श्रद्धा न करना तथा उनकी अन्यथा प्ररूपणा करना अतिचार है ।

१. प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है । साधु के पात्र में दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहे तब तक वह एक दत्ति है । धारा खण्डित होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है । जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहीं से लेना चाहिये, किन्तु जहाँ दो, तीन आदि से अधिक व्यक्तियों के लिये भोजन बना हो वहाँ से नहीं लेना चाहिये । यह पहली प्रतिमा एक मास की है ।

२. से ७. दूसरी से सातवीं प्रतिमा तक का समय एक-एक मास का है । इनमें क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ती जाती है । दो दत्ति दूसरी प्रतिमा में आहार की, दो दत्ति पानी की लेना । इसी प्रकार तीसरी, चौथी यावत् सातवीं प्रतिमा में क्रमशः तीन, चार, पांच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण की जाती हैं ।

८. आठवीं प्रतिमा सप्त अहोरात्र की होती है । इसमें चौविहार एकान्तर उपवास करना होता है । गाँव के बाहर उत्तानासन (चित्त सोना), पार्श्वासन (एक करवट लेना) तथा निषद्यासन (पैरों को बराबर करके बैठना) से ध्यान लगाना चाहिये । उपसर्ग आये तो शान्त चित्त से सहन करना चाहिये ।

९. यह प्रतिमा भी सात अहोरात्र की है । इसमें चौविहार षष्ठभक्त तप (बेले-बेले पारणा) किया जाता है । गाँव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगंडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है ।

१०. यह भी सप्त अहोरात्र की होती है । इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है । गाँव के बाहर गोदोहासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है ।

११. यह प्रतिमा एक अहोरात्र की होती है । एक दिन और एक रात तक इसकी साधना की जाती है । चौविहार बेले के द्वारा इसकी आराधना होती है । गाँव के बाहर कायोत्सर्ग किया जाता है ।

१२. यह प्रतिमा केवल एक रात्रि की है । इसका आराधन बेले को चढ़ाकर चौविहार तेला करके किया जाता है । गाँव के बाहर खड़े होकर, मस्तक को थोड़ा-सा झुकाकर किसी एक पुद्गल

पर दृष्टि रखकर निर्निमेष नेत्रों से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। देव, मनुष्य एवं तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग आने पर उन्हें समभाव से सहन किया जाता है। उपसर्ग से चलायमान नहीं होना चाहिये। यदि उपसर्ग से चलायमान हो जाय तो पागल अर्थात् बावला बने या दीर्घ-कालिक रोग उत्पन्न हो जाय। यदि स्थिर रहे तो अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान तक प्राप्त करता है।

तेरह क्रियास्थान

क्रिया का अर्थ यहाँ कार्य है। इसके तेरह प्रकार निम्नलिखित हैं—

१. **अर्थ-क्रिया**—अपने किसी प्रयोजन के लिये जीवों की हिंसा करना, कराना या अनुमोदना करना अर्थ-क्रिया है।

२. **अनर्थ-क्रिया**—विना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला पाप कर्म अनर्थ-क्रिया कहलाता है।

३. **हिंसा-क्रिया**—अमुक व्यक्ति मुझे अथवा मेरे स्नेहियों को कष्ट देता है, देगा अथवा उसने दिया है, यह सोचकर किसी प्राणी की हिंसा करना।

४. **अकस्मात्-क्रिया**—शीघ्रतावश विना जाने हो जाने वाला पाप अकस्मात्-क्रिया है।

५. **दृष्टिविपर्यास-क्रिया**—मतिभ्रम से होने वाला पाप यथा—चोरादि के भ्रम में साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड दे देना।

६. **मृषा-क्रिया**—झूठ बोलना।

७. **अदत्तादान-क्रिया**—चोरी करना।

८. **अध्यात्म-क्रिया**—बाह्य निमित्त के विना मन में होने वाला शोक आदि।

९. **मान-क्रिया**—अपनी प्रशंसा करना, घमण्ड करना।

१०. **मित्र-क्रिया**—प्रियजनों को कठोर दण्ड देना।

११. **माया-क्रिया**—दम्भ करना।

१२. **लोभ-क्रिया**—लोभ करना।

१३. **ईर्यापथिकी-क्रिया**—अप्रमत्त विवेकी संयमी को गमनागमन के निमित्त से लगने वाली क्रिया।

चौदह भूतग्राम—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त यों कुल चौदह भेद होते हैं। इनकी विराधना करना, इन्हें किसी भी प्रकार की पीड़ा देना अतिचार है।

विवेचन—जैनागमों में सूक्ष्म रूप से अहिंसा का पालन करने के लिए एवं हिंसा से बचने के लिए अनेक आधारों से जीवों के भेद-प्रभेदों का उल्लेख किया गया है, क्योंकि जीव की भली-भांति पहिचान हुए विना उसकी हिंसा से बचा नहीं सकता। प्रस्तुत में जीवों के चौदह ग्रामों-समूहों का उल्लेख किया गया है, जिनमें समस्त जागतिक जीवों का समावेश हो जाता है।

सूक्ष्म जीव वे कहलाते हैं जो समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं किन्तु चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होते। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि मारने से मरते नहीं और काटने से कटते नहीं हैं। वे सूक्ष्मनामकर्म के उदय वाले प्राणी हैं और सब एकेन्द्रिय स्थावर ही होते हैं। ध्यान रहे कि कुंथुवा जैसे छोटे शरीर वाले जीवों की इन सूक्ष्म जीवों में गिनती नहीं है। कुंथुवा आदि जीव वादरनामकर्म के उदय वाले हैं, अतएव उनकी गणना वादर-त्रस जीवों में होती है।

पर्याप्ति का अभिप्राय है जीव की शक्ति की पूर्णता। जीव जव नवीन जन्म ग्रहण करता है तव उस नूतन शरीर, इन्द्रिय आदि के निर्माण के लिये उपयोगी पुद्गलों की आवश्यकता होती है। उन पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर, इन्द्रिय, भाषा आदि के रूप में परिणत करने की शक्ति की परिपूर्णता ही पर्याप्ति कहलाती है। यह परिपूर्णता प्राप्त कर लेने वाले जीव पर्याप्त कहलाते हैं और जव तक वह शक्ति पूरी नहीं होती तव तक वे अपर्याप्त कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में चार, द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियों तक में पांच और संज्ञी-समनस्क प्राणियों में छह पर्याप्तियां होती हैं। जिस जीव में जितनी पर्याप्तियां संभव हैं, उनकी पूर्ति एक अन्तर्मूहूर्त काल में ही हो जाती है।

पंद्रह परमाधार्मिक

१. अम्व, २. अम्वरीष, ३. श्याम, ४. शवल, ५. रौद्र, ६. उपरौद्र, ७. काल, ८. महाकाल, ९. असिपत्र, १०. धनुः, ११. कुम्भ, १२. वालुक, १३. वैतरणि, १४. खरस्वर, १५. महाघोष।

ये परम अधार्मिक, पापाचारी, क्रूर एवं निर्दय असुर जाति के देव हैं। नारकीय जीवों को व्यर्थ ही, केवल मनोविनोद के लिए यातना देते हैं। इनका विशेष परिचय इस प्रकार है—

१. अम्ब—नारक जीवों को आकाश में ले जाकर नीचे पटकने वाले, गर्दन पकड़कर गड्ढे में गिराने वाले, उल्टे मुंह आकाश में उछाल कर गिरते समय वर्छी आदि भौंकने वाले।

२. अम्बरीष—नैरयिकों को मुद्गर आदि से कूट कर, करोंत, कैंची आदि से टुकड़े-टुकड़े कर अधमरे कर देने वाले।

३. श्याम—कोड़ा आदि से पीटने वाले, हाथ-पैर आदि अवयवों को वुरी तरह काटने वाले, शूल—सुई आदि से वींधने वाले आदि।

४. शवल—मुद्गर आदि द्वारा नारकियों की हड्डी के जोड़ों को चूर-चूर करने वाले।

५. रौद्र—नरकस्थ जीवों को खूव ऊंचे उछाल कर गिरते समय तलवार, भाले आदि में पिरोने वाले।

६. उपरौद्र—नारकीय जीवों के हाथ-पैर तोड़ने वाले।

७. काल—कुंभी आदि में पकाने वाले।

८. महाकाल—पूर्वजन्म के मांसाहारी जीवों को उन्हीं की पीठ आदि का मांस काट-काट कर खिलाने वाले।

९. असिपत्र—तलवार जैसे तीखे पत्तों के वन की विकुर्वणा करके उस वन में छाया की

इच्छा से आये हुए नारकी जीवों को वैक्रिय वायु द्वारा तलवार की धार जैसे तीखे पत्ते गिराकर छिन्न-भिन्न करने वाले।

१०. धनुष—धनुष से छेदने वाले।

११. कुम्भ—ऊंटनी आदि के आकार वाली कुंभियों में पकाने वाले।

१२. बालुक—वज्रमय तप्त वालुका में चनों के समान तड़तड़ाहट करते हुए नारकी जीवों को भूनने वाले।

१३. वैतरणी—अत्यन्त दुर्गन्ध वाली राध—लोहू से भरी हुई एवं तपे हुए जस्ता और कथीर की उकलती हुई, अत्यन्त क्षार से युक्त उष्ण पानी से भरी हुई वैतरणी नदी की विकुर्वणा करके उसमें नरक के जीवों को डालकर अनेक प्रकार से पीडित करने वाले।

१४. खरस्वर—तीखे वज्रमय कांटे वाले ऊंचे-ऊंचे शाल्मली वृक्षों पर चढ़ाकर चिल्लाते हुए नारकी जीवों को खींचने वाले, मस्तक पर करोत रखकर चीरने वाले।

१५. महाघोष—अत्यन्त वेदना के डर से मृगों की तरह इधर-उधर भागते हुए नारक जीवों को बाड़े में पशुओं की तरह घोर-गर्जना करके रोकने वाले। इनके द्वारा होने वाले पाप की अनुमोदना आदि से जो अतिचार लगा हो, तो मैं उससे निवृत्त होता हूँ।

गाथा षोडशक

सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन इस प्रकार हैं—

१. स्वसमय-परसमय, २. वैतालीय, ३. उपसर्ग-परिज्ञा, ४. स्त्री-परिज्ञा, ५. नरकविभक्ति, ६. वीर-स्तुति, ७. कुशील-परिभाषा, ८. वीर्य, ९. धर्म, १०. समाधि, ११. मोक्षमार्ग, १२. समवसरण, १३. यथातथ्य, १४. ग्रन्थ, १५. आदानीय, १६. गाथा।

इनकी श्रद्धा या प्ररूपणा में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

सत्तरह असंयम

१-९. पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना, कराना, अनुमोदन करना।

१०. अजीव-असंयम—अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के द्वारा असंयम होता है, उन बहुमूल्य वस्त्रपात्र आदि का ग्रहण करना अजीव-असंयम है।

११. प्रेक्षा-असंयम—जीव-सहित स्थान में उठना-बैठना आदि।

१२. उत्प्रेक्षा-असंयम—गृहस्थों के पापकर्मों का अनुमोदन करना।

१३. प्रमार्जन-असंयम—वस्त्र-पात्र आदि का प्रमार्जन न करना।

१४. परिष्ठापनिका-असंयम—अविधि से परठना।

१५. मन-असंयम—मन में दुर्भाव रखना।

१६. वचन-असंयम—मिथ्या, कटु, कठोर, पीड़ाकारी वचन बोलना।

१७. काय-असंयम—गमनागमनादि कायिक क्रियाओं में असावधान रहना।

ये सत्तरह असंयम समवायांगसूत्र में कहे गये हैं। आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक में 'असंजमे' के स्थान में 'संजमे' का उल्लेख किया है। संजमे का अर्थ संयम है। संयम के भी उपर्युक्त ही पृथ्वीकायसंयम आदि सत्तरह भेद हैं।

किसी भी असंयम का आचरण किया हो, संयम का आचरण न किया हो अथवा इनकी विपरीत श्रद्धा प्ररूपणा की हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अठारह अब्रह्मचर्य

देव सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काय से स्वयं सेवन करना, अन्य से सेवन कराना तथा सेवन करते हुए का अनुमोदन करना। इस प्रकार नौ भेद वैक्रिय शरीर सम्बन्धी तथा मनुष्य एवं तिर्यञ्च सम्बन्धी औदारिक भोगों के भी इसी तरह नौ भेद समझ लेने चाहिये। कुल भेद मिलाकर अठारह होते हैं।

ज्ञाताधर्म-कथा के १९ अध्ययन

१. मेघकुमार (उत्क्षिप्त), २. धन्ना सार्थवाह (संघाट), ३. मयूराण्ड, ४. कूर्म, ५. शैलक, ६. तुम्बलेप, ७. रोहिणी, ८. मल्ली, ९. माकन्दी, १०. चन्द्र, ११. दावदववृक्ष, १२. उदक, १३. मण्डूक, १४. तेतलिप्रधान, १५. नन्दीफल, १६. अवरकंका, १७. आकीर्णक, १८. सुंसुमा, १९. पुण्डरीक।

उक्त उन्नीस उदाहरणों के भावानुसार साधुधर्म की साधना न करना अतिचार है।

बीस असमाधिस्थान

चित्त की एकाग्रतापूर्वक मोक्षमार्ग में स्थित होने को समाधि कहते हैं। इसके विपरीत असमाधि है। असमाधि के बीस स्थान निम्नलिखित हैं—

१. दवदव—जल्दी-जल्दी चलना।
२. बिना पूंजे चलना।
३. बिना उपयोग के प्रमार्जन करना।
४. अमर्यादित शय्या और आसन रखना।
५. गुरुजनों का अपमान करना।
६. स्थविरों की अवहेलना करना।
७. भूतोपघात—जीवों के घात का चिन्तन करना।
८. क्षण-क्षण में क्रोध करना।
९. परोक्ष में अवर्णवाद करना।
१०. शंकित विषय में बार-बार निश्चयपूर्वक बोलना।
११. नित्य नया कलह करना।
१२. शान्त हुए कलह को पुनः उत्तेजित करना।
१३. अकाल में स्वाध्याय करना।
१४. सचित्त रज-सहित हाथ आदि से भिक्षा लेना।
१५. प्रहर रात बीतने के बाद जोर से बोलना।

१६. गच्छ आदि में छेद-भेद, फूट-अनेकता करना ।
१७. गण को दुःख उत्पन्न हो, ऐसी भाषा बोलना ।
१८. हरएक के साथ विरोध करना ।
१९. दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना ।
२०. अनेषणीय आहार आदि का सेवन करना ।

इक्कीस शबलदोष

शबल दोष साधु के लिये सर्वथा त्याज्य हैं । जिन कार्यों के करने से चारित्र कर्बुर (शबल) अर्थात् मलीन होकर नष्ट हो जाता है, उन्हें शबलदोष कहते हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. हस्तकर्म करना ।
२. मैथुन—अतिक्रम, व्यतिक्रम एवं अतिचार रूप से मैथुन सेवन करना ।
३. रात्रिभोजन करना ।
४. आधाकर्म—साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन लेना ।
५. राजपिण्ड लेना ।

६. औद्देशिक—साधु के निमित्त अथवा खरीदा हुआ, स्थान पर सामने लाकर दिया हुआ, उधार लाया हुआ आदि भोजन वगैरह लेना ।

७. बार-बार प्रत्याख्यान भंग करना ।
८. छह मास के अन्दर गण से गणान्तर में जाना ।
९. एक महीने में तीन बार उदक का लेप लगाना । (नदी आदि में उतरना)
१०. एक मास में तीन बार मातृस्थान (माया का) सेवन करना ।
११. शय्यातरपिंड का सेवन करना ।
१२. जान-बूझकर हिंसा करना ।
१३. जान-बूझकर झूठ बोलना ।
१४. जान-बूझकर चोरी करना ।
१५. जान-बूझकर सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सचित्त शिला पर सोना आदि ।
१६. जीव सहित पीठ फलक आदि का सेवन करना ।
१७. जान-बूझकर कन्द-मूल, छाल, प्रवाल, पुष्प, फूल, बीज आदि का भोजन करना ।
१८. एक वर्ष में दश उदक-लेप (सचित्त जल का लेप) लगाना ।
१९. वर्ष में दस बार माया-स्थानों का सेवन करना ।

२०. जान-बूझकर सचित्त जल वाले हाथ से तथा सचित्त जल-सहित कुड़छी आदि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना ।

२१. जान-बूझकर जीवों वाले स्थान पर, बीज, हरित, कीड़ीनगरा, लीलन-फूलन, कीचड़ एवं मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग करना ।

बाईस परिषह

क्षुधा आदि किसी भी कारण से कष्ट उपस्थित होने पर संयम में स्थिर रहने के लिए तथा

कर्मों की निर्जरा के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट साधु को सहन करने चाहिये, वे परिषह हैं, क्योंकि साधु-जीवन सुखशीलता का जीवन नहीं है। वह आरामतलबी से विमुख होकर आत्मा की पूर्ण निर्मलता के लिए जूझने का जीवन है। श्री समवायांग एवं उत्तराध्ययन में २२ परिषहों का वर्णन है। इन पर विजय पाना—समभाव से सहना चाहिए। विवरण इस प्रकार है—

१. क्षुधा—भूख का कष्ट सहन करना।
२. पिपासा—निर्दोष पानी नहीं मिलने पर प्यास का कष्ट सहन करना।
३. शीत—अल्प वस्त्रों के कारण भयंकर ठंड का कष्ट सहना।
४. उष्ण—गर्मी का कष्ट सहना।
५. दंशमशक—डांस-मच्छर-खटमल आदि जंतुओं का कष्ट सहना।
६. अचेल—वस्त्रों के नहीं मिलने पर होने वाला कष्ट सहना।
७. अरति—कठिनाइयों से घबराकर संयम के प्रति होने वाली अरुचि का निवारण करना।
८. स्त्रीपरिषह—नारीजन्य प्रलोभन पर विजय पाना। यह अनुकूल परिषह है।
९. चर्यापरिषह—विहार-यात्रा में होने वाला गमनादि कष्ट सहना।
१०. निषद्या—स्वाध्याय-भूमि आदि में होने वाले उपद्रव को सहन करना।
११. शय्या—अनुकूल मकान नहीं मिलने पर होने वाले कष्ट को सहना।
१२. आक्रोश—कोई गाली दे, धमकाये या अपमानित करे तो समभाव रखना।
१३. वध—समभाव से लकड़ी आदि की मार सहना।
१४. याचना—मांगने पर कोई तिरस्कार कर दे तो भी क्षुब्ध न होना।
१५. अलाभ—याचना करने पर भी वस्तु नहीं मिले तो खेद न करना।
१६. रोग—रोग उत्पन्न होने पर धैर्यपूर्वक सहन करना।
१७. तृणस्पर्श—कांटा आदि चुभने पर या तृण पर सोने से होने वाले कष्ट को सहना।
१८. जल्ल—शारीरिक मल का परिषह सहन करना।
१९. सत्कार—पूजाप्रतिष्ठा प्राप्त होने पर अहंकार न करना, न प्राप्त होने पर खेद न करना।
२०. प्रज्ञा—बुद्धि का गर्व नहीं करना।
२१. अज्ञान—बुद्धिहीनता का दुःख समभाव से सहन करना।
२२. दर्शन—दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व को भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मतों के मोहक वातावरण से प्रभावित न होना।

सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययन

प्रथम श्रुतस्कन्ध के पूर्वोक्त सोलह अध्ययन एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन—(१७) पुण्डरीक, (१८) क्रियास्थान, (१९) आहारपरिज्ञा, (२०) प्रत्याख्यानक्रिया, (२१) आचारश्रुत, (१२) आर्द्रकुमार, (२३) नालन्दीय, मिलकर तेईस अध्ययन होते हैं।

उक्त तेईस अध्ययनों के कथनानुसार संयमी जीवन न होना, अतिचार है।

चौवीस देव

असुरकुमार आदि दश भवनपति; भूत, यक्ष आदि आठ व्यन्तर; सूर्य, चन्द्र आदि पांच ज्योतिष्क और वैमानिक देव, इस प्रकार कुल चौवीस जाति के देव हैं। संसार में भोग-जीवन के ये सबसे बड़े प्रतिनिधि हैं। इनकी प्रशंसा करना भोगमय जीवन की प्रशंसा करना है और निन्दा करना द्वेष भाव है। अतः मुमुक्षु को तटस्थ भाव ही रखना चाहिये। यदि कभी तटस्थता का भंग किया हो तो अतिचार है।

उत्तराध्ययनसूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शान्तिसूरि यहां देव शब्द से चौवीस तीर्थंकर देवों का भी ग्रहण करते हैं। इस अर्थ के मानने पर अतिचार होगा कि—उनके प्रति आदर या श्रद्धाभाव न रखना, उनकी आज्ञानुसार न चलना आदि।

पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ

महाव्रतों का शुद्ध पालन करने के लिए शास्त्रों में प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएँ बतलाई गयी हैं। भावनाओं का स्वरूप बहुत ही हृदयग्राही एवं जीवन-स्पर्शी है। श्रमणधर्म का शुद्ध पालन करने के लिए भावनाओं पर अवश्य ही लक्ष्य देना चाहिये।

अहिंसा-महाव्रत की पांच भावनाएँ—

१. ईर्यासमिति—उपयोगपूर्वक गमनागमन करना।
२. आलोकितपानभोजन—देख-भालकर प्रकाशयुक्त स्थान में आहार करना।
३. आदाननिक्षेपसमिति—विवेकपूर्वक पात्रादि उठाना तथा रखना।
४. मनोगुप्ति—मन का संयम।
५. वचनगुप्ति—वाणी का संयम।

सत्य-महाव्रत की पांच भावनाएँ—

१. विचार कर बोलना, २. क्रोध का त्याग, ३. लोभ का त्याग, ४. भय का त्याग, ५. हंसी-मजाक का त्याग।

अस्तेय-महाव्रत की पांच भावनाएँ—

१. अठारह प्रकार के शुद्ध स्थान की याचना करके सेवन करना।
२. प्रतिदिन तृण-काष्ठादि का अवग्रह लेना।
३. पीठ-फलक आदि के लिए भी वृक्षादि को नहीं काटना।
४. साधारण पिण्ड का अधिक सेवन नहीं करना।
५. साधु की वैयावृत्य करना।

ब्रह्मचर्य-महाव्रत की पांच भावनाएँ—

१. स्त्री-पशु-नपुंसक के सान्निध्य से रहित स्थान में रहना।
२. स्त्री-कथा का वर्जन करना।
३. स्त्रियों के अंगोपांगों का अवलोकन नहीं करना।
४. पूर्वकृत कामभोग का स्मरण नहीं करना।

५. प्रतिदिन सरस भोजन न करना।

अपरिग्रह-महाव्रत की पांच भावनाएँ—

१.—५. पांचों इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के इन्द्रिय-गोचर होने पर मनोज्ञ पर राग-भाव तथा अमनोज्ञ पर द्वेष-भाव न लाकर उदासीन भाव रखना।

दशाश्रुत आदि सूत्रत्रयों के २६ उद्देशन काल

दशाश्रुतस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छह और व्यवहारसूत्र के दस, इन छव्वीस अध्ययनों के पठनकाल में व्यतिक्रम करने से एवं उनके अनुसार आचरण न करने से अतिचार होता है।

सत्ताईस अनगार के गुण

सत्ताईस अनगार के गुणों का शास्त्रानुसार भलीभांति पालन न करना अतिचार है। उसकी शुद्धि के लिए मुनि-गुणों का प्रतिक्रमण है।

१.—५. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना, ६. रात्रिभोजन का त्याग करना, ७.-११. पांचों इन्द्रियों को वश में रखना, १२. भावसत्य—अन्तःकरण की शुद्धि, १३. करणसत्य—वस्त्र, पात्र आदि की भली-भांति प्रतिलेखना करना, १४. क्षमा, १५. वीतरागता—वैराग्य, १६. मन की शुभ प्रवृत्ति, १७. वचन की शुभ प्रवृत्ति, १८. काय की शुभ प्रवृत्ति, १९.—२४. छह काय के जीवों की रक्षा, २५. चारित्र से युक्तता, २६. शीत आदि वेदना का सहना और, २७. मारणान्तिक उपसर्ग को भी समभाव से सहना।

उपर्युक्त सत्ताईस गुण, आचार्य हरिभद्र ने अपनी आवश्यकसूत्र की शिष्यहिता टीका में संग्रहणीकार की एक प्राचीन गाथा के अनुसार वर्णन किए हैं। परन्तु समवायांगसूत्र में मुनि के सत्ताईस गुण कुछ भिन्न रूप से अंकित हैं—पांच महाव्रत, पांच इन्द्रियों का निरोध, चार कषायों का त्याग, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मनःसमाहरणता, वचनसमाहरणता, कायसमाहरणता, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनातिसहनता, मारणान्तिकातिसहनता।

अट्ठाईस आचारप्रकल्प

आचारप्रकल्प की व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएँ हैं। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आचार को ही आचार-प्रकल्प कहते हैं—**'आचार एव आचारप्रकल्पः।'**

आचार का अर्थ प्रथम अंगसूत्र है। उसका प्रकल्प अर्थात् अध्ययन-विशेष। निशीथसूत्र आचारप्रकल्प कहलाता है। अथवा ज्ञानादि साधु-आचार का प्रकल्प अर्थात् व्यवस्थापन आचार-प्रकल्प कहा जाता है।

'आचारः प्रथमाङ्गं तस्य प्रकल्पः अध्ययनविशेषो निशीथमित्यपराभिधानम्। आचारस्य वा साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पो व्यवस्थापनमिति आचारप्रकल्पः।'

—अभयदेव-समवायांगसूत्र टीका

आचारांगसूत्र के शस्त्रपरिज्ञा आदि २५ अध्ययन हैं और निशीथसूत्र भी आचारांगसूत्र की चूलिका स्वरूप माना जाता है, अतः उसके तीन अध्ययन मिलकर आचारांगसूत्र के अट्ठाईस अध्ययन होते हैं—

१. शस्त्रपरिज्ञा, २. लोक-विजय, ३. शीतोष्णीय, ४. सम्यक्त्व, ५. लोकसार, ६. धूताध्ययन, ७. महापरिज्ञा, ८. विमोक्ष, ९. उपधानश्रुत, १०. पिण्डैपणा, ११. शय्या, १२. ईर्याध्ययन, १३. भाषा, १४. वस्त्रैपणा, १५. पात्रैपणा, १६. अवग्रहप्रतिमा, १७. सप्त स्थानादि सप्तैकिकाध्ययन, १८. नैपधिकी सप्तैकिकाध्ययन, १९. उच्चारप्रस्रवणसप्तैकिकाध्ययन, २०. शब्दसप्तैकिकाध्ययन, २१. रूपसप्तैकिकाध्ययन, २२. परक्रियासप्तैकिकाध्ययन, २३. अन्योन्यक्रियासप्तैकिकाध्ययन, २४. भावना, २५. विमुक्ति, २६. उद्घात, २७. अनुद्घात, २८. आरोपण ।

समवायांगसूत्र के अनुसार आचारप्रकल्प के अट्ठाईस भेद इस प्रकार हैं—

१. एक मास का प्रायश्चित्त, २. एक मास पांच दिन का प्रायश्चित्त, ३. एक मास दस दिन का प्रायश्चित्त । इसी प्रकार पांच दिन बढ़ाते हुए पांच मास तक कहना चाहिये । (इस प्रकार २५ हुए) २६. उपद्घात-अनुपद्घात, २७. आरोपण, २८. कृत्स्नाकृत्स्न । इन अट्ठाईस अध्ययनों की श्रद्धा, प्ररूपणा आदि में कोई अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

पापश्रुत के २९ भेद

जो आत्मा को दुर्गति में डालने का कारण हो, उसे 'पाप' कहते हैं और जो गुरुमुख से सुना जाय उसे 'श्रुत' कहते हैं । इस प्रकार पापरूप श्रुत को 'पापश्रुत' कहते हैं । वह मुख्यतः उनतीस प्रकार का है—

१. उत्पात—अपने आप होने वाली रुधिर आदि की वृष्टि का शुभाशुभ फल बताने वाला निमित्तशास्त्र ।

२. भौम—भूमिकम्प आदि का फल बताने वाला शास्त्र ।

३. स्वप्नशास्त्र—स्वप्न का शुभाशुभ फल बतलाने वाला शास्त्र ।

४. अन्तरिक्षशास्त्र—आकाश में होने वाले ग्रहयुद्ध आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र ।

५. अंगशास्त्र—शरीर के विभिन्न अंगों के फड़कने का फल कहने वाला शास्त्र ।

६. स्वरशास्त्र—जीवों के चन्द्रस्वर, सूर्यस्वर आदि स्वर का फल प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ।

७. व्यञ्जनशास्त्र—तिल, मषा आदि के फल का वर्णन करने वाला शास्त्र ।

८. लक्षणशास्त्र—स्त्री और पुरुषों के लक्षणों (मान, उन्मान, प्रमाण आदि) का शुभाशुभ फल कहने वाला शास्त्र ।

ये आठों ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से चौवीस हो जाते हैं ।

२५. विकथानुयोग—अर्थ और काम के उपायों को बताने वाले शास्त्र । जैसे वात्स्यायनकृत कामसूत्र आदि ।

२६. विद्यानुयोग—रोहिणी आदि विद्याओं की सिद्धि के उपाय बताने वाले शास्त्र ।

२७. मन्त्रानुयोग—मन्त्र आदि के द्वारा कार्यसिद्धि बताने वाला शास्त्र ।

२८. योगानुयोग—वशीकरण आदि योग बताने वाले शास्त्र ।

२९. अन्यतीर्थिकानुयोग—अन्य तीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित एवं अभिमत हिंसा प्रधान आचार-शास्त्र आदि ।

—समवायांगसूत्र

इस प्रकार इन २९ प्रकार के पापश्रुतों की श्रद्धा, प्ररूपणा आदि करने से जो अतिचार किया हो तो उससे निवृत्त होता हूँ।

महामोहनीय कर्मबन्ध के ३० स्थान

१. त्रस जीवों को पानी में डुबाकर मारना।
२. त्रस जीवों को श्वास आदि रोककर मारना।
३. त्रस जीवों को मकान आदि में बंद करके धुएँ में घोटकर मारना।
४. त्रस जीवों को मस्तक पर दण्ड आदि का घातक प्रहार करके मारना।
५. त्रस जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि लपेट कर मारना।
६. पथिकों को धोखा देकर मारना अथवा लूटना।
७. गुप्त रीति से अनाचार का सेवन करना।
८. दूसरे पर मिथ्या कलंक लगाना।
९. सभा में जानबूझकर मिश्र भाषा बोलना।
१०. राजा के राज्य का ध्वंस करना।
११. बालब्रह्मचारी न होते हुए भी अपने को बालब्रह्मचारी कहलाना।
१२. ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का ढोंग रचना।
१३. आश्रयदाता का धन चुराना।
१४. कृत उपकार को न मानकर कृतघ्नता करना।
१५. गृहपति अथवा संघपति आदि की हत्या करना।
१६. राजा, नगरसेठ तथा राष्ट्रनेता आदि की हत्या करना।
१७. समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना।
१८. दीक्षित साधु को संयम से भ्रष्ट करना।
१९. केवलज्ञानी की निन्दा करना।
२०. मोक्षमार्ग का अपकार अथवा अवर्णवाद करना।
२१. आचार्य तथा उपाध्याय की निन्दा करना।
२२. आचार्य तथा उपाध्याय की सेवा न करना।
२३. बहुश्रुत न होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत कहना-कहलाना।
२४. तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी कहना।
२५. शक्ति होते हुए भी अपने आश्रित वृद्ध, रोगी आदि की सेवा न करना।
२६. हिंसा तथा कामोत्पादक विकथाओं का बार-बार प्रयोग करना।
२७. जादू-टोना आदि करना।
२८. कामभोग में अत्यधिक लिप्त रहना, आसक्त रहना।
२९. देवताओं की निंदा करना।
३०. देवदर्शन न होते हुए भी प्रतिष्ठा के मोह से देवदर्शन की बात कहना। —दशाश्रुतस्कन्ध

विवेचन—संसार के प्राणिमात्र को मोह ने घेर रखा है। चारों ओर मोह का जाल बिछा हुआ है। क्या परिवार, क्या सम्प्रदाय, क्या जाति एवं क्या अन्य इकाई, सर्वत्र मोह का अंधेरा व्याप्त

हैं। कहीं धन का मोह है तो कहीं पुत्र का, कहीं स्त्री का मोह है तो कहीं वस्त्राभूपणों का। मोह-ममत्व बाहर में दिखाई देने वाली चीज नहीं है कि जिसे हाथ में लेकर बताया जा सके। ये तो एक प्रकार के भाव हैं। जब कर्मबन्ध होता है चाहे वह मोहनीय का हो, चाहे अन्य कर्मों का, तब आत्मा के साथ अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाओं का होता है। उनकी अनेक पर्यायें हैं, न्यूनाधिक अवस्थाएँ हैं। मोह बहुरूपिया है। वह अनेक रूपों में आता है। इन्द्रजाल भी उसके सामने तुच्छ है। उसके सामने रावण की बहुरूपिणी या बहुसारिणी विद्या भी नगण्य है। मोह को पहचानना बड़ा कठिन है। महामोहनीय कर्म की स्थिति भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट ७० करोड़ा-करोड़ सागरोपम की है, जो सब कर्मों की स्थिति से अधिक है। यहाँ महामोहनीय कर्म के बंध के मुख्य तीस स्थान अर्थात् कारण प्ररूपित किए गए हैं।

इन तीस महामोहनीय के कारणों में से किसी भी कारण से जो कोई अतिचार किया गया हो तो मैं उससे निवृत्त होता हूँ।

सिद्धों के ३१ गुण

आदिकाल अर्थात् सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के प्रथम समय से ही सिद्धों में रहने वाले गुणों को सिद्धादिगुण कहते हैं। आठ कर्मों की इकतीस प्रकृतियाँ नष्ट होने से ये गुण प्रकट होते हैं। वे इकतीस गुण निम्नलिखित हैं—

१. ज्ञानावरणीय-कर्म की पांच प्रकृति नष्ट होने के कारण—

१. क्षीणमतिज्ञानावरण
२. क्षीणश्रुतज्ञानावरण
३. क्षीणअवधिज्ञानावरण
४. क्षीणमनःपर्यवज्ञानावरण
५. क्षीणकेवलज्ञानावरण

२. दर्शनावरणीय-कर्म की नौ प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणचक्षुदर्शनावरण
२. क्षीणअचक्षुदर्शनावरण
३. क्षीणअवधिदर्शनावरण
४. क्षीणकेवलदर्शनावरण
५. क्षीणनिद्रा
६. क्षीणनिद्रानिद्रा
७. क्षीणप्रचला
८. क्षीणप्रचलाप्रचला
९. क्षीणस्त्यानगृद्धि

३. वेदनीय-कर्म की दो प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणसातावेदनीय
२. क्षीणअसातावेदनीय

४. मोहनीय-कर्म की दो प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणदर्शनमोहनीय
२. क्षीणचारित्रमोहनीय

५. आयु-कर्म की चार प्रकृतियों के समूल क्षय से—

१. क्षीण नैरयिकायु, २. तिर्यञ्चायु, ३. मनुष्यायु, ४. देवायु

६. नामकर्म की दो प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणशुभनाम, २. क्षीणअशुभनाम

७. गोत्र-कर्म की दो प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणउच्चगोत्र
२. क्षीणनीचगोत्र

८. अन्तराय-कर्म की पांच प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणदानान्तराय
२. क्षीणलाभान्तराय
३. क्षीणभोगान्तराय
४. क्षीणउपभोगान्तराय
५. क्षीणवीर्यान्तराय ।

—समवायांगसूत्र

इनके विषय में जो अतिचार किया गया हो तो मैं उससे निवृत्त होता हूँ ।

बत्तीस योग-संग्रह

१. गुरुजनों के समक्ष दोषों की आलोचना करना ।
२. किसी के दोषों की आलोचना सुनकर किसी अन्य से न कहना ।
३. आपत्ति आने पर भी धर्म में दृढ़ रहना ।
४. आसक्तिरहित तप करना ।
५. सूत्रार्थ ग्रहण रूप ग्रहणशिक्षा एवं प्रतिलेखना आदि रूप आसेवना-आचार शिक्षा का अभ्यास करना ।
६. शोभा शृंगार नहीं करना ।
७. पूजा एवं प्रतिष्ठा का मोह छोड़कर गुप्त तप करना ।
८. लोभ का त्याग करना ।
९. तितिक्षा—परिषह-उपसर्ग आदि को सहन करना ।
१०. शुचि—संयम एवं सत्य की पवित्रता रखना ।
११. आर्जव—सरलता ।
१२. सम्यक्त्वशुद्धि ।
१३. समाधि—प्रसन्नचित्तता ।
१४. आचार-पालन में माया नहीं करना ।

१५. विनय—अरिहन्तादि सम्बन्धी दश प्रकार का विनय करना।
१६. धैर्य—अनुकूल प्रतिकूल परिषह आने पर धैर्य रखना।
१७. संवेग—सांसारिक भोगों से भय अथवा मोक्षाभिलाषा होना।
१८. मायाचार न करना।
१९. सदनुष्ठान में निरत रहना।
२०. संवर—पापाश्रव को रोकना।
२१. दोषों की शुद्धि करना।
२२. काम-भोगों से विरक्ति।
२३. मूलगुणों का शुद्ध पालन।
२४. उत्तरगुणों का शुद्ध पालन।
२५. व्युत्सर्ग—शारीरिक ममता न करना।
२६. प्रमाद न करना।
२७. प्रतिक्षण संयम-यात्रा में सावधान रहना।
२८. शुभध्यान—धर्म-शुक्लध्यान-परायण होना।
२९. मारणान्तिक वेदना होने पर भी अधीर न होना।
३०. संग का परित्याग करना।
३१. कृत दोषों का प्रायश्चित्त करना।
३२. मरणपर्यन्त ज्ञानादि की आराधना करना।

विवेचन—इन बत्तीस योगसंग्रहों का सम्यक् आराधन नहीं होने से जो कोई अतिचार किया गया हो तो मैं उससे निवृत्त होता हूँ।

मन, वचन एवं काय के व्यापार को योग कहते हैं। योग के दो भेद हैं—शुभ योग एवं अशुभ योग। शुभ योग में प्रवृत्ति और अशुभ योग से निवृत्ति ही संयम है। प्रस्तुत सूत्र में शुभ प्रवृत्ति रूप योग ही ग्राह्य है। उसी का संग्रह संयमी जीवन की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाए रख सकता है।

"युज्यन्ते इति योगाः मनोवाक्कायव्यापाराः, ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षिताः।"

—आचार्य अभयदेव समवायांग टीका

तेतीस आशातना

जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति बड़ी सुन्दर की है। सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को 'आय' कहते हैं और शातना का अर्थ है खण्डन। देव, गुरु, शास्त्र आदि का अपमान करने से सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की शातना—खण्डना होती है।

'आयः—सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना-खण्डनं निरुक्तादाशातना।'

—आचार्य अभयदेव समवायांग टीका

'आसातणाणामं नाणादिआयस्स सातणा। यकारलोपं कृत्वा आशातना भवति।'

—आचार्य जिनदास, आवश्यकचूर्णि

गुरुदेव सम्बन्धी ३३ आशातनाओं का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। यहाँ अरिहन्तादि की तेतीस आशातनाओं का निरूपण मूल पाठ में ही किया गया है। उनका अर्थ इस प्रकार है—

अरिहंताण आसायणाए—सूत्रोक्त तेतीस आशातनाओं में पहली आशातना अरिहन्तों की है। अनन्तकाल से अन्धकार में भटकते हुए जीवों को सत्य का प्रकाश मूलत: अरिहन्त भगवान् ही दिखलाते हैं। वे ही धर्म का उपदेश करते हैं तथा सन्मार्ग का निरूपण करते हैं। अत: परमोपकारी अरिहन्तों की आशातना नहीं करनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि भारतवर्ष में तो अरिहन्त हैं ही नहीं, फिर उनकी आशातना कैसे हो सकती है? समाधान है कि—'अरिहन्त की कोई सत्ता नहीं है। उन्होंने तो कठोर धर्म का उपदेश दिया है। वे वीतराग होते हुए भी स्वर्ण, सिंहासन आदि का उपयोग क्यों करते हैं?' इत्यादि दुश्चिन्तन करना अरिहन्तों की आशातना है।

सिद्धों की आशातना—'सिद्ध कोई होता ही नहीं है। जब शरीर ही नहीं रहा तो फिर अनन्तसुख कैसे मिल सकता है' आदि अवज्ञा करना सिद्धों की आशातना है।

आचार्य-उपाध्याय की आशातना—वह इस प्रकार है—'ये बालक हैं, अकुलीन हैं, अल्पबुद्धि हैं, औरों को तो उपदेश देते पर स्वयं कुछ नहीं करते' इत्यादि। इसी प्रकार उपाध्याय की आशातना समझनी चाहिये।

साधुओं की आशातना—'कायर जन परिवार का पालन-पोषण न कर सकने के कारण गृह त्याग कर भीख मांगने का धंधा अख्तियार कर लेते हैं। गृहस्थों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं' इत्यादि कह कर साधुओं की निंदा करना उनकी आशातना है।

साध्वियों की आशातना—स्त्री होने के कारण साध्वियों को नीचा बतलाना। उनको कलह और संघर्ष की जड़ कहना, इत्यादि रूप से अवहेलना करना साध्वियों की आशातना है।

श्रावक-श्राविकाओं की आशातना—जैनधर्म अतीव उदार और विराट् धर्म है। यहां केवल अरिहन्त आदि महान् आत्माओं का ही गौरव नहीं है, अपितु साधारण गृहस्थ होते हुए भी जो स्त्री-पुरुष देशविरति धर्म का पालन करते हैं उन श्रावकों एवं श्राविकाओं की अवज्ञा करना भी पाप है। प्रत्येक आचार्य, उपाध्याय और साधु को भी प्रतिदिन प्रात: और सायंकाल प्रतिक्रमण के समय श्रावक एवं श्राविकाओं के प्रति ज्ञात या अज्ञात रूप से की जाने वाली अवज्ञा के लिए पश्चात्ताप करना होता है। 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना होता है। जैनागमों में श्रावक-श्राविकाओं को 'अम्मा-पियरो' से उपमित किया गया है। जैनधर्म में गुणों को महत्त्व दिया है। वहां गुणों की पूजा होती है, न कि वेषभेद या लिंग आदि के भेद से किसी को ऊंचा या नीचा समझा जाता है।

देवों-देवियों की आशातना—वह इस प्रकार है—देवता तो विषय-वासना में आसक्त, अप्रत्याख्यानी, अविरत हैं और शक्तिमान् होते हुए भी शासन की उन्नति नहीं करते हैं, इत्यादि। इसी प्रकार देवियों की आशातना समझना चाहिये।

इहलोक और परलोक की आशातना—इहलोक और परलोक का अभिप्राय इस प्रकार है—मनुष्य के लिए मनुष्य इहलोक है और नरक, तिर्यञ्च एवं देव परलोक है। इहलोक और परलोक

की असत्य प्ररूपणा करना, पुनर्जन्म आदि न मानना, नरकादि चार गतियों के सिद्धान्त पर विश्वास न रखना इत्यादि इहलोक और परलोक की आशातना है।

प्राण-भूत आदि की आशातना—प्राण-भूत आदि शब्दों को एकार्थक माना गया है। सबका अर्थ जीव है। आचार्य जिनदास कहते हैं—'एगट्ठिता व एते।' परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर और आचार्य हरिभद्र आदि ने उक्त शब्दों के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किए हैं। द्वीन्द्रिय आदि जीवों को प्राण और पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों को भूत कहा जाता है। समस्त संसारी प्राणियों के लिए जीव और संसारी तथा मुक्त सब अनन्तानन्त जीवों के लिए सत्त्व शब्द का व्यवहार होता है—

प्राणिनः द्वीन्द्रियादयः। भूतानि पृथ्व्यादयः····।
जीवन्ति जीवा-आयुःकर्मानुभवयुक्ताः सर्व एव····।
सत्त्वाः—सांसारिक-संसारातीतभेदाः।"

—आवश्यक-शिष्यहिता टीका

विश्व के समस्त अनन्तानन्त जीवों की आशातना का यह सूत्र बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्म की करुणा का अनन्त प्रवाह केवल परिचित और स्नेही जीवों तक ही सीमित नहीं है। अपितु समस्त जीव-राशि से क्षमा मांगने का महान् आदर्श है। प्राणी निकट हो या दूर, स्थूल हो या सूक्ष्म, ज्ञात हो या अज्ञात, शत्रु हो या मित्र, किसी भी रूप में हो, उसकी आशातना एवं अवहेलना करना साधक के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

केवलिप्ररूपित धर्म की आशातना—साधक केवली होने से पूर्व ही पूर्ण वीतराग हो जाते हैं। अतएव वीतराग एवं सर्वज्ञ होने के कारण उनके द्वारा प्ररूपित धर्म सर्वहितकारी एवं सत्य ही होता है। फिर भी उनके द्वारा प्ररूपित धर्म का अवर्णवाद करना केवलिप्ररूपितधर्म का अवर्णवाद है। इसी प्रकार देवों, मनुष्यों और असुरों सहित लोक की असत्य प्ररूपणा रूप आशातना से निवृत्त होना हूँ।

काल की आशातना—'वर्तनालक्षण काल नहीं है' इस प्रकार की अथवा 'काल ही सब कुछ करता है जीवों को पचाता है, उनका संहार करता है और संसार के सोये रहने पर भी जागता है, अतः काल दुर्निवार है,'[1] इस प्रकार काल को एकान्त कर्ता मानने रूप आशातना से निवृत्त होता हूँ।

भगवान् महावीर के मुख-चन्द्र से निस्सृत, गणधर के कर्णों में पहुँचे हुए, सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के बोधक और भव्य जीवों को अजर-अमर करने वाले वचनामृत स्वरूप श्रुत की असत्य प्ररूपणा आदि आशातना से निवृत्त होता हूँ।

श्रुत-देवता की आशातना—श्रुतदेवता का अर्थ है—श्रुत-निर्माता तीर्थंकर तथा गणधर। वे श्रुत के मूल अधिष्ठाता हैं, रचयिता हैं, अतः श्रुतदेवता हैं। उनकी तथा वाचनाचार्य (उपाध्याय के आदेशानुसार शिष्यों को पाठ रूप में श्रुत का उद्देशादि करते हैं, उन) की आशातना से निवृत्त होता हूँ।

---

१. कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥

व्यत्याम्रेडित—वच्चामेलियं का संस्कृत रूप 'व्यत्याम्रेडित' होता है। इसका अर्थ है—शून्य चित्त से दो तीन वार वोलना। कुछ आचार्यों ने व्यत्याम्रेडित का अर्थ भिन्न रूप से भी किया है। यथा भिन्न-भिन्न सूत्रों में तथा स्थानों पर आए हुए एक जैसे समानार्थक पदों को एक साथ मिलाकर वोलना व्यत्याम्रेडित है।

इन शब्दों का अर्थ पूर्व में ज्ञान सम्वन्धी अतिचारों में दिया जा चुका है।

'पडिक्कमामि एवविहे असंजमे' से लेकर 'तेतीसाए आसायणाहिं' तक के सूत्र में एकविध असंयम का ही विराट् रूप वतलाया गया है। यह सव अतिचार-समूह मूलतः असंयम का ही विवरण है। 'पडिक्कमामि एगविहे असंजमे' यह असंयम का संक्षिप्त-प्रतिक्रमण है और यही प्रतिक्रमण आगे 'दोहि बंधणेहिं' आदि से लेकर 'तेतीसाए आसायणाहिं' तक क्रमशः विराट् होता गया है।

यह लोकालोक प्रमाण अनन्त विराट् संसार है। इसमें अनन्त ही असंयम रूप हिंसा, असत्य आदि हेयस्थान हैं, अनन्त संयम रूप अहिंसा आदि उपादेयस्थान हैं तथा अनन्त पुद्गल आदि ज्ञेय-स्थान हैं। साधक को इन सवका प्रतिक्रमण करना होता है। इस प्रकार अनन्त संयम-स्थानों का आचरण न किया हो और असंयम-स्थानों का आचरण किया हो तो उसका प्रतिक्रमण है। इस प्रकार एक से लेकर तेतीस तक के वोल के समान ही अन्य अनन्त वोल भी अर्थतः संकल्प में रखने चाहिये, भले ही वे ज्ञात हों या अज्ञात हों। साधक को केवल ज्ञात का ही प्रतिक्रमण नहीं करना, अपितु अज्ञात का भी प्रतिक्रमण करना है। तभी तो आगे के अन्तिम पाठ में कहा है "जं संभरामि, जं च न संभरामि"। अर्थात् जो दोष स्मृति में आ रहे हैं उनका प्रतिक्रमण करता हूँ और जो दोप इस समय स्मृति में नहीं आ रहे हैं, परन्तु हुए हैं, उन सवका भी प्रतिक्रमण करता हूँ।

प्रतिज्ञा-सूत्र

निर्ग्रन्थ-प्रवचन का पाठ

नमो चउवीसाए तित्थयराणं उसभाइमहावीरपज्जवसाणाणं।

इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, नेयाउयं, संसुद्धं, सल्लगत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं, निव्वाणमग्गं, अवितहमविसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं।

इत्थं ठिआ जीवा सिज्झंति, वुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि, रोएमि, फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि।

तं धम्मं सद्दहंतो, पत्तिअंतो, रोअंतो, फासंतो, पालंतो, अणुपालंतो।

तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए,

असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि।

अबंभं परियाणामि, बंभं उवसंपज्जामि।

अकप्पं परियाणामि, कप्पं उवसंपज्जामि।

अन्नाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि।

अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपज्जामि।

मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि।
अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसंपज्जामि।
अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि।
जं संभरामि, जं च न संभरामि।
जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि।

तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि। समणोऽहं संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, अनियाणो दिट्ठिसंपन्नो माया-मोस-विवज्जिओ।

अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु, जावंति केइ साहू रयहरण-गुच्छ-पडिग्गह-धारा, पंचमहव्वय-धारा अट्ठारस्स-सहस्स-सीलंगधारा, अक्खयाकारचरित्ता, ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएणं वंदामि॥

भावार्थ—भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर देवों को मैं नमस्कार करता हूँ।

यह तीर्थंकरोपदिष्ट निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही सत्य है, अनुत्तर—सर्वोत्तम है, कैवलिक-केवलज्ञानियों द्वारा प्ररूपित है, (मोक्षप्रापक गुणों से) परिपूर्ण है, न्याय, युक्ति, तर्क से अबाधित है, पूर्ण रूप से शुद्ध अर्थात् सर्वथा निष्कलंक है, माया आदि शल्यों को नष्ट करने वाला है, सिद्धिमार्ग—सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, कर्म-बन्धन से मुक्ति का साधन है, संसार से छुड़ाकर मोक्ष का मार्ग है, पूर्ण शान्ति रूप निर्वाण का मार्ग है, मिथ्यात्व रहित है, विच्छेदरहित अर्थात् सनातन-नित्य है तथा पूर्वापरविरोध से रहित है, सब दुःखों का पूर्णतया क्षय करने का मार्ग है।

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थित रहने वाले अर्थात् तदनुसार आचरण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध—सर्वज्ञ होते हैं, मुक्त होते हैं, पूर्ण आत्मशान्ति को प्राप्त करते हैं, समस्त दुःखों का सदाकाल के लिए अन्त करते हैं।

मैं इस निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप धर्म पर श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ, स्पर्शना करता हूँ, पालना अर्थात् रक्षा करता हूँ। विशेष रूप से निरन्तर पालन करता हूँ।

मैं प्रस्तुत जिन-धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, स्पर्शना-आचरण करता हुआ, पालना करता हुआ, विशेष रूप से निरन्तर पालना करता हुआ—

उस केवलिप्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता हूँ और विराधना से विरत-निवृत्त होता हूँ।

असंयम को ज्ञपरिज्ञा से जानता और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागता हूँ तथा संयम को स्वीकार करता हूँ।

अब्रह्मचर्य को जानता और त्यागता हूँ और ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ।
अकल्प्य (अकृत्य) को जानता और त्यागता हूँ, कृत्य को स्वीकार करता हूँ।
अज्ञान को जानता और त्यागता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।

अक्रिया-नास्तिकवाद को जानता तथा त्यागता हूँ, क्रिया-सम्यग्वाद को स्वीकार करता हूँ।

मिथ्यात्व को जानता और त्यागता हूँ, सम्यक्त्व-सदाग्रह को स्वीकार करता हूँ।

अबोधि-मिथ्यात्व को जानता एवं त्यागता हूँ, बोधि को स्वीकार करता हूँ।

हिंसा आदि अमार्ग को (ज्ञपरिज्ञा से) जानता और (प्रत्याख्यानपरिज्ञा से) त्यागता हूँ। अहिंसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

जिन दोषों को स्मरण कर रहा हूँ, जो याद हैं और जो स्मृतिगत नहीं हैं, जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिनका प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूँ, उन दिवस सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, विरत-सावद्य व्यापारों से एवं संसार से निवृत्त हूँ, पापकर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ, निदानशल्य से रहित अर्थात् आसक्ति से रहित हूँ, दृष्टिसम्पन्न-सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, माया सहित मृषावाद—असत्य का परिहार करने वाला हूँ।

ढाई द्वीप और दो समुद्र परिमित मानव-क्षेत्र में अर्थात् पंद्रह कर्मभूमियों में जो भी रजोहरण, गुच्छक एवं पात्र को धारण करने वाले तथा पाँच महाव्रतों, अठारह हजार शीलांगों-सदाचार के अंगों को धारण करने वाले एवं निरतिचार आचार के पालक त्यागी साधु मुनिराज हैं, उन सबको शिर नमाकर, मन से, मस्तक से वन्दना करता हूँ।

विवेचन—जैनधर्म मूलतः पापों से बचने का आदर्श प्रस्तुत करता है। अतः वह कृत कर्मों के लिए पश्चात्ताप कर लेना ही पर्याप्त नहीं समझता, प्रत्युत भविष्य में पुनः पाप न होने पाएँ, इस बात की भी सावधानी रखने का निर्देश करता है।

प्रतिज्ञा करने से पहले संयम-पथ के महान् यात्री आदिनाथ श्री ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर देवों को नमस्कार किया है। युद्धवीर युद्धवीरों का तो अर्थवीर अर्थवीरों का स्मरण करते हैं। यह धर्मयुद्ध है, अतः यहां धर्मवीरों का ही स्मरण किया गया है। यह अटल नियम रहा है कि जैसी साधना करनी हो उसी साधना के उपासकों एवं उसमें सिद्धि प्राप्त करने वालों का स्मरण किया जाता है। अतः जैनधर्म के चौवीस तीर्थंकरों की स्मृति हमारी आत्म-शुद्धि को स्थिर करने वाली है। तीर्थंकर हमारे लिए अन्धकार में प्रकाशस्तंभ हैं।

भगवान् ऋषभदेव—वर्तमान कालचक्र में जो चौवीस तीर्थंकर हुए हैं, उनमें भगवान् ऋषभदेव सर्वप्रथम हैं। आपके द्वारा ही मानव-सभ्यता का आविर्भाव हुआ है। आपसे पहले मानव जंगलों में रहता, वन फल खाता एवं सामाजिक जीवन से शून्य घूमा करता था। न उसे धर्म का पता था और न कर्म का ही। आत्मा का स्वरूपदर्शन सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने ही कराया।

भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणीकाल में जैनधर्म के आदि प्रवर्तक हैं। जो लोग जैन-धर्म को सर्वथा आधुनिक माने बैठे हैं, उन्हें इस ओर लक्ष्य देना चाहिये। भगवान् ऋषभदेव के गुणगान वेदों और पुराणों तक में गाए गए हैं। वे मानव-संस्कृति के आदि उद्धारक थे, अतः वे मानव मात्र के पूज्य रहे हैं। प्राचीन वैदिक ऋषि उनके महान् उपकारों को नहीं भूले थे, उन्होंने खुले हृदय से भगवान् ऋषभदेव का स्तुति-गान किया है—

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं,
बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः। —ऋग् मं. १ सू. १९० मं. १

अर्थात् मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ को पूजा-साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो।

भगवान् महावीर—इस युग के प्रारंभ में भगवान् ऋषभदेव के द्वारा संस्थापित जैनधर्म की गरिमा को मध्यवर्त्ती बाईस तीर्थंकरों ने तथा चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने संवर्द्धना प्रदान की। किन्तु उस समय उन्हें धार्मिक एवं सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में अनेकानेक विकट समस्याओं से जूझना पड़ा था। आज से छव्वीस सौ वर्ष से कुछ अधिक वर्ष पूर्व यद्यपि धर्म का दीप प्रज्वलित था, पर देश की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। चारों ओर हिंसा का ताण्डवनृत्य हो रहा था तथा शोषण एवं अनाचार की अति से मानवता कराह रही थी। धर्म के नाम पर पशुओं के रक्त की नदियां बहती थीं, शूद्रों पर तथा नारी जाति पर भी भयानक अत्याचार होते थे। उस विकट वेला में जगदुद्धारक वीर प्रभु ने जन्म लिया और अपनी आत्मशक्ति से अहिंसाधर्म की दुन्दुभि बजाई थी। भगवान् महावीर का ऋण भारतवर्ष पर अनन्त है, असीम है, हम किसी भी प्रकार से उनका ऋण अदा नहीं कर सकते। वे पूर्ण निष्काम थे, बदले में चाहते भी कुछ नहीं थे। लेकिन उनके अनुयायी अथवा सेवक होने के नाते हमारा कर्तव्य है कि हम उनके बताए हुए सन्मार्ग पर चलें और श्रद्धा एवं भक्ति के साथ मस्तक झुकाकर उनके श्रीचरणों में वन्दन करें।

निग्गंथं पावयणं—'पावयणं' विशेष्य है और 'निग्गंथं' विशेषण है। जैन साहित्य में 'निग्गंथ' शब्द प्रसिद्ध है। निग्गंथ का संस्कृत रूप 'निर्ग्रन्थ' होता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—धन-धान्य आदि बाह्य ग्रन्थ और मिथ्यात्व, अविरति तथा क्रोध, मान, माया आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित, पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु।

निर्ग्रन्थों अरिहन्तों का प्रवचन, नैर्ग्रन्थ्यप्रावचन है।[1]

मूल में जो निग्गंथ शब्द है, वह निर्ग्रन्थ का वाचक न होकर 'नैर्ग्रन्थ्य' का वाचक है। 'पावयणं' शब्द के दो संस्कृत रूपान्तर हैं—प्रवचन और प्रावचन। आचार्य जिनदास प्रवचन कहते हैं और हरिभद्र प्रावचन। शब्दभेद होते हुए भी अर्थ दोनों आचार्य एक ही करते हैं। जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, वह सामायिक से लेकर बिन्दुसार पूर्व तक का आगम-साहित्य निर्ग्रन्थ प्रवचन या नैर्ग्रन्थ्य प्रावचन में गर्भित हो जाता है।[2]

'प्रकर्षेण अभिविधिना उच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत्प्रावचनम्।' —आचार्य हरिभद्र।

श्री ऋषभदेव स्वामी से लेकर श्री महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकर भगवन्तों को मेरा नमस्कार हो। इस प्रकार नमस्कार करके तीर्थंकरप्रणीत प्रवचन की स्तुति करते हैं—यही निर्ग्रन्थ अर्थात् रजत आदि द्रव्यरूप और मिथ्यात्व आदि भावरूप ग्रन्थ से रहित—मुनि-सम्बन्धी

---

१. 'निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनमिति।' —आचार्य हरिभद्र

२. 'पावयणं सामाइयादि बिन्दुसारपज्जवसाणं जत्थ नाण-दंसण-चरित्तसाहणवावारा अणेगधा वण्णिज्जंति।' —आचार्य जिनभद्र, आवश्यकचूर्णि

सामायिक आदि प्रत्याख्यान पर्यन्त द्वादशाङ्ग गणिपिटक स्वरूप तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट प्रवचन सत्य है।

सच्चं—सत्य आत्मा का स्वभाव, अनुभूति का विषय और आचरण का आदर्श है। जैसे मिश्री की मधुरता का अनुभव, आस्वादन उसे मुंह में रखने से ही हो सकता है, उसी प्रकार सत्य का महत्त्व उसे आचरण में उतारने से ही मालूम होता है। सत्य का उपासक जीवन के हर क्षेत्र में हर समय सत्य को साथ रखता है। सत्य एक सार्वभौम सिद्धान्त है। सत्य को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है।

सत्य से नीति सुशोभित होती है। जीवन और व्यवहार में सत्य की झलक आने पर मनुष्य का जीवन अपने आप धर्ममय हो जाता है। धर्म और नीति ग्रन्थों में सर्वत्र सत्य की महिमा का मुक्तकंठ से बखान किया गया है। सत्य सर्वोत्तम है, सर्वोत्कृष्ट है। सत्य के विना धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती।

'नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति' अर्थात् वह धर्म, धर्म नहीं है जो सत्य से दूर है। सत्य साधना का सार, मनुष्य की तत्त्व-चिंतना का तार और मोक्ष मंजिल का द्वार है। संसार का सम्पूर्ण सार तत्त्व इसमें निहित है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य को भगवान् का रूप कहा गया है।

जीवन का आधार है, सत्य सुखों की खान।
प्रश्नव्याकरण देखिये, सत्य स्वयं भगवान् ॥

केवलियं—मूल में 'केवलियं' शब्द है, इसके संस्कृत रूपान्तर दो किए जा सकते हैं—केवल और कैवलिक। केवल का अर्थ अद्वितीय है। सम्यग्दर्शनादि तत्त्व अद्वितीय हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं।

कैवलिक का अर्थ है—केवलज्ञानियों द्वारा प्ररूपित अर्थात् प्रतिपादित।

पडिपुण्णं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही जैनधर्म है। वह अपने आप में सब ओर से प्रतिपूर्ण है।

नेयाउयं—'नेयाउयं' का संस्कृत रूप नैयायिक होता है। आचार्य हरिभद्र नैयायिक का अर्थ करते हैं—जो नयनशील है, ले जाने वाला है, वह नैयायिक है। सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष में ले जाने वाले हैं, अतः वे नैयायिक कहलाते हैं। 'नयनशीलं नैयायिकं मोक्ष-गमकमित्यर्थः।'

श्रीभावविजयजी न्याय का अर्थ 'मोक्ष' करते हैं। क्योंकि निश्चित आय—लाभ ही न्याय है और ऐसा न्याय एक मात्र मोक्ष ही है तथा साधक के लिए मोक्ष से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है—

"निश्चित आयो लाभो न्यायो मुक्तिरित्यर्थः, स प्रयोजनमस्येति नैयायिकः।"

—उत्तराध्ययनवृत्ति, अध्य. ४, गा. ५

इसका एक अर्थ युक्ति-तर्क से युक्त-अबाधित भी हो सकता है।

---

१. "केवलियं-केवलं अद्वितीयं एतदेवैकं हितं नान्यद् द्वितीयं प्रवचनमस्ति। केवलिणा वा पण्णत्तं केवलियं।"

—आचार्य जिनदास कृत आवश्यकचूर्णि

सल्लकत्तणं—आगम की भाषा में शल्य का अर्थ है—'माया, निदान और मिथ्यात्व'। बाहर के शल्य कुछ काल के लिए ही पीड़ा देते हैं, परन्तु ये अन्दर के शल्य तो बड़े ही भयंकर होते हैं। अनादि काल से अनन्त आत्माएँ इन शल्यों के कारण पीडित हो रही हैं। स्वर्ग में पहुँच कर भी इनसे मुक्ति नहीं मिलती। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है—'निःशल्यो व्रती'। व्रती के लिए सर्वप्रथम निःशल्य अर्थात् शल्य-रहित होना परम आवश्यक है।

निज्जाणमग्गं—आचार्य हरिभद्र ने निर्याण का अर्थ मोक्षपद किया है। जहां जाया जाता है वह यान होता है। निरुपम यान निर्याण कहलाता है। मोक्ष ही ऐसा पद है जो सर्वश्रेष्ठ यान-स्थान है। अतः वह जैन आगमसाहित्य में निर्याण पदवाच्य भी है।

अविसन्धि—अविसन्धि अर्थात् सन्धि से रहित। सन्धि बीच के अन्तर को कहते हैं। भाव यह है कि जिनशासन अनादि काल से निरन्तर अव्यवच्छिन्न चला आ रहा है। भरतादि क्षेत्र में किसी कालविशेष में नहीं भी होता है, परन्तु महाविदेह क्षेत्र में तो सदा काल अव्यवच्छिन्न बना रहता है। काल की सीमाएँ जैनधर्म की प्रगति में बाधक नहीं बन सकतीं। जिनधर्म निज-धर्म अर्थात् आत्मा का धर्म है। अतः वह तीन काल और तीन लोक में कहीं न कहीं सदा सर्वदा मिलेगा ही।

सव्व-दुःखपहीणमग्गं—धर्म का अन्तिम विशेषण सर्वदुःखप्रहीणमार्ग है। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से व्याकुल है, क्लेश से संतप्त है। वह अपने लिए सुख चाहता है, आनन्द चाहता है, परन्तु संसार का कोई भी सुख ऐसा नहीं है, जो दुःख से असंभिन्न हो। क्योंकि व्यक्ति अज्ञान और मोह के वशीभूत होकर बाह्य पदार्थों में सुख ढूँढता है। लेकिन जो पदार्थ आज सुखद और प्रीतिकर प्रतीत होते हैं, कालान्तर में वे ही कष्टप्रद, क्लेशजनक एवं शोक-संताप-वृद्धि के कारण बन जाते हैं। जिस धन की प्राप्ति के लिए व्यक्ति छल, कपट और माया का सेवन करता है, जिसे प्राप्त करने के लिए दिन-रात एक करता है, वही धन प्राणों के नाश का कारण भी बन जाता है। कर, टेक्स आदि की चोरी के कारण कारागृह का मेहमान भी बनाता है। जो पुत्र बचपन में माता-पिता की आंखों का तारा, दिल का टुकड़ा, हृदय का दुलारा होता है, वही बड़ा होने पर दुराचारी बन जाने के कारण हृदय का शूल, आंखों का कांटा, कुल का कलंक बन जाता है। उसका नाम सुनने में भी कष्ट होता है। लज्जा से मस्तक झुक जाता है। अगर पदार्थ में सुख होता तो एक पदार्थ एक समय सुख का और दूसरे समय दुःख का कारण कैसे बन जाता ? सच्चे अर्थ में वह सच्चा सुख नहीं, सुखाभास है। 'संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा' सच तो यह कि आत्मभिन्न बाह्य पदार्थों के संयोग के कारण ही जीव अनादि काल से दुःखों को भुगत रहा है। सच्चा सुख तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्म की साधना से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—सर्वदुःख-प्रहीणमार्गं—सर्वदुःख-प्रहीणो मोक्षस्तत्कारणमित्यर्थः।

सिज्झंति—जैनधर्म में आत्मा के अनन्त गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही सिद्धत्व माना गया है।

जब तक ज्ञान अनन्त न हो, दर्शन अनन्त न हो, चारित्र अनन्त न हो, वीर्य अनन्त न हो, अर्थात् प्रत्येक गुण अनन्त न हो, तब तक जैनधर्म मोक्ष होना स्वीकार नहीं करता है। 'सिज्झंति' का अर्थ है—भगवान् के बताये हुए मार्ग में स्थित जीव सिद्ध होते हैं।

बुज्झंति—बुद्ध होते हैं। बुद्ध अर्थात् पूर्ण ज्ञानी। यहां शंका हो सकती है कि—बुद्धत्व तो सिद्ध होने से पहले ही प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक विकास के क्रमस्वरूप चौदह गुणस्थानों में, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुण तेरहवें गुणस्थान में ही प्राप्त हो जाते हैं और मोक्ष, चौदहवें गुणस्थान के बाद होता है। अतः 'सिज्झंति' के बाद बुज्झंति कहने का क्या अभिप्राय है? समाधान—केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो जाता है, अतः विकासक्रम के अनुसार बुद्धत्व का स्थान पहला है और सिद्धत्व का दूसरा, परन्तु यहां सिद्धत्व के बाद जो बुद्धत्व कहा है उसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व बना रहता है, नष्ट नहीं होता है। कुछ दार्शनिक मुक्तात्माओं में ज्ञान का अभाव हो जाना कहते हैं, उनकी मान्यता का निषेध इस विशेषण से हो जाता है।

मुच्चंति—'मुच्चंति' पद का अर्थ है—कर्मों से मुक्त होना। जब तक एक भी कर्म-परमाणु आत्मा से सम्बन्धित रहता है तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्ययन के प्रथम सूत्र में लिखा है—"कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः" अर्थात् समस्त कर्मों के नष्ट होने पर मोक्ष होता है।

मोक्षप्राप्ति के लिए जिज्ञासु साधकों को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय इन घातिक कर्मों को सर्वप्रथम नष्ट करने के लिए ज्ञानपूर्वक शुभ क्रिया करनी चाहिये, क्योंकि आत्मा शुभ से ही शुद्ध की ओर अग्रसर होती है और एक समय ऐसा भी आता है कि कष्टसाध्य साधना के द्वारा आत्मा में बोध की किरणें प्रस्फुटित हो जाती है। जो अघातिक कर्म वेदनीय, नाम, गोत्र एवं आयुकर्म जली हुई रस्सी के समान शेष रहते हैं, उनको पांच लघु अक्षर उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने स्वल्प समय में नष्ट करके ही आत्मा सिद्धि को प्राप्त हो जाती है।

आशय यह है कि आत्मा के साथ अनादि काल से जो कर्मों का सम्बन्ध है, उनका भेदन करके ही आत्मा स्वदशा में स्थिर हो सकती है।

महाश्रमण महावीर का कर्मवाद एवं आत्मवाद सिद्धान्त अत्यन्त गहन है। प्रत्येक साधक को साधना-पथ पर गतिशील होने से पूर्व सभी तत्त्वों के सम्बन्ध में सम्यक् प्रकारेण जानकारी कर लेनी चाहिये, जिससे साधक निर्भ्रान्त होकर सहज ही साधना-रत हो सके तथा सिद्ध, बुद्ध हो सके। अर्थात् कर्ममुक्त होकर शाश्वत एवं अक्षय मोक्ष-सुख को प्राप्त कर सके।

मोक्ष एक है—आत्मा का कर्म रूप पाश से अलग होना मोक्ष है। यह मोक्ष यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में से तत्-तत् कर्मों के छूटने से आठ प्रकार का है, फिर भी मोचन-सामान्य की अपेक्षा यह एक है। इसमें भेद नहीं है। जीव की मुक्ति एक ही बार होती है। जो जीव एक बार मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह फिर से संसार में जन्म के कारणों का अभाव होने से जन्म धारण नहीं करता, अतः जो स्थिति प्राप्त हो गई है वह सादि होकर भी अपर्यवसित है। उसकी पुनः प्राप्ति का अभाव है, अतः मोक्ष एक ही है।

परिनिव्वायंति—आत्मा स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के द्वारा आत्मा शुद्ध, बुद्ध, विशुद्ध, अमल, विमल, उज्ज्वल एवं उन्नत बनती है। ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है। इससे भिन्न जितने भी राग-द्वेष, कर्म-शरीर आदि भाव हैं, वे सब संयोगजन्य बाह्य भाव हैं।

'अन्नो जीवो अन्नं सरीरं' अर्थात् आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है।

—सूत्रकृतांग सूत्र (२-१-६)

शब्द, रूप, कामभोगादि जड़ पदार्थों से रहित आत्मा ही मोक्षगामी हो सकती है। जैन-धर्म की यह दृढ़ मान्यता है कि हर एक आत्मा में महान् ज्योति जाज्वल्यमान है। आनन्द और अमर शान्ति का महासागर उसमें हिलोरें मार रहा है। प्रत्येक प्रसुप्त आत्मा का जब चैतन्य जाग उठता है तो वह आत्मा परमात्मा वीतराग एवं क्षुद्र से विराट् और लघु से महान् बन जाती है। अन्त में परिनिर्वाण को प्राप्त हो जाती है।

निर्वाण की प्रशस्ति नहीं हो सकती। वह ऐसे अनिर्वचनीय, अनुपम, असाधारण परमानन्द का स्थान है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सव्वदुक्खाणमंतं करेंति—श्रीमद् आचाराङ्गसूत्र में बतलाया है—हे गौतम! मोक्ष के सुख का स्वरूप बतलाने के लिए कोई शब्द नहीं है। जैसे गूंगा आदमी गुड़ के स्वाद को जानता है, लेकिन उसका वर्णन नहीं कर सकता; इसी प्रकार जो मुक्तात्मा जीव, जिन्हें निरंजन पद प्राप्त हुआ है, वे मोक्षसुख का अनुभव तो करते हैं, मगर उसे प्रकट करने के लिए उनके पास भी कोई शब्द नहीं है। निरंजन पद की प्राप्ति के बाद सभी दुःखों का अन्त हो जाता है।

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिसकी सेवा में खड़े रहते हैं और हाथ जोड़े आज्ञा का प्रतीक्षा करते रहते हैं, उस छह खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती का सुख उत्तम है या मोक्ष का सुख उत्तम है? अगर चक्रवर्ती का सुख उत्तम होता तो स्वयं चक्रवर्ती भी अखण्ड षट्खण्ड के महान् साम्राज्य को ठोकर मार कर क्यों भिक्षुजीवन स्वीकार करते? चक्रवर्ती स्वयं अपने सुख को मोक्ष-सुख की तुलना में तुच्छ, अति तुच्छ समझता है अर्थात् धर्माराधक साधक मोक्ष प्राप्त कर शारीरिक एवं मानसिक सब प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है। आचार्य जिनदास कहते हैं—"सव्वेसिं सारीर-माणसाणं दुक्खाणं अन्तकरा भवन्ति, वोच्छिण्णसव्वदुक्खा भवन्ति।" अर्थात् सिद्ध भगवान् समस्त शारीरिक और मानसिक दुःखों का अन्त करने वाले हैं, समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं।

सद्दहामि—मैं श्रद्धा करता हूँ। श्रद्धा जीवननिर्माण का मूल है। श्रद्धा के बिना कोई भी मनुष्य इस संसार-सागर से पार हो जाए, यह संभव नहीं। व्यक्ति कितना भी विद्वान् हो, ज्ञानवान् हो, पण्डित हो, दार्शनिक हो किन्तु अगर उसमें सम्यक्त्व नहीं है, उसकी आत्मा के प्रति श्रद्धा नहीं है तो विविध भाषाओं का ज्ञान तथा अनेक प्रकार की कलाओं का अभ्यास भी उसे संसार-सागर से पार नहीं कर सकता। अतः श्रद्धा ही जीवन के लिए अमृत है। किसी भी साध्य की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है, किन्तु श्रद्धा अथवा विश्वास दुर्लभ है—

"सद्धा परम दुल्लहा।" —उत्तरा. सू. अ. ३

श्रद्धा के बिना मनुष्य अपने आपको भी नहीं पहचान सकता। श्रद्धा के बिना ज्ञान भी पंगु के सदृश हो जाता है। मेधावी तथा महान् वही होता है जिसकी रग-रग में श्रद्धा बसी हुई हो। ध्येय के प्रति एकनिष्ठ रहकर साधना करने से सफलता मिलती है। ध्येयसिद्धि में एकनिष्ठता

ही वह भूमिका है कि जिस पर सफलता का अंकुर उत्पन्न होता है, पनपता है, बढ़ता है और फलप्रद होकर कृतकृत्य बना देता है। जिस व्यक्ति की अपने ध्येय में एकनिष्ठा नहीं, दृढ़ आस्था नहीं, अटूट विश्वास नहीं, उस ढुलमुल साधक का कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। चाहे विद्याभ्यास हो, कलासाधना हो, व्यापार हो, उद्योग हो अथवा धार्मिक क्रिया हो, सभी में एकनिष्ठ बनकर श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक पुरुषार्थ करने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है। श्रद्धा के दो रूप होते हैं—प्रथम सम्यक् श्रद्धा एवं दूसरी अंध श्रद्धा। सम्यक् श्रद्धा विवेकपूर्ण होती है तथा अन्ध श्रद्धा अविवेकमय होती है। दोनों का उद्गमस्थान मानव का हृदय है। जैसे गौ के स्तनों से विवेकी मानव दूध प्राप्त कर लेता है और जोंक नामक जीव रक्त प्राप्त करता है। स्थान तो एक ही है एक ही खान से हीरा और कोयला, एक ही पौधे से फूल और शूल प्राप्त होते हैं। किसे क्या ग्रहण करना है, यह सब अपनी दृष्टि पर निर्भर करता है।

सम्यक् श्रद्धा दो प्रकार की है—सुगुरु, सुदेव एवं सुधर्म पर श्रद्धा होना व्यवहार-समकित (श्रद्धा) है तथा जो साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र—इन आत्मिक गुणों में निष्ठावान् होता है, जिसे आत्मा का असली स्वरूप अवगत हो गया है और आत्मा के अनन्त सामर्थ्य पर विश्वास है, वह साधक निश्चय सम्यक्त्व का अधिकारी कहलाता है। श्रद्धा मुक्ति-महल में प्रवेश करने का प्रथम सोपान है।

वास्तव में साधना का धरातल सम्यग्दर्शन ही है। इसके अभाव में किसी भी क्रिया के साथ धर्म शब्द नहीं जुड़ सकता। साधक प्रस्तुत पाठ में प्रतिज्ञा करता है कि वीतराग के बताए धर्म पर मैं श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ अर्थात् धर्म में विश्वास करता हूँ, प्रीति करता हूँ एवं रुचि करता हूँ आदि।

फासेमि-पालेमि-अणुपालेमि—जैनदर्शन केवल श्रद्धा एवं प्रतीति को ही साध्य की सिद्धि में हेतुभूत नहीं मानता है। प्रथम सोपान पर चढ़कर वहीं जमे रहने से मुक्ति-महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता। आगमकारों ने साधक को संकेत दिया है कि आत्म-सिद्धि के लिए सम्यक्श्रद्धा के साथ आगे बढ़ना होगा, ऊपर चढ़ना होगा और यह प्रतिज्ञा भी करनी होगी कि मैं धर्म का स्पर्श करता हूँ, जीवन पर्यन्त प्रत्येक स्थिति में उसका पालन करता हूँ अर्थात् अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्वीकृत धर्माचार की रक्षा करता हूँ। पूर्व आप्त पुरुषों द्वारा आचरित धर्म का दृढ़तापूर्वक प्रतिपल पालन करता हूँ।

इस प्रतिज्ञा की मुमुक्षु साधक बार-बार पुनरावृत्ति करता रहता है। तभी वह अपने ध्येय में सफल हो सकता है। जैसे दर्जी खण्ड पट को अखण्ड रूप देने के लिए सुई के साथ धागा भी लेता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व (श्रद्धा) के साथ आचरण की भी अनिवार्यता है।

अब्भुट्ठिओमि—प्रस्तुत पाठ में साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि—मैं धर्म की श्रद्धा, प्रीति, प्रतीति, स्पर्शना, पालना तथा अनुपालना करता हुआ धर्म की आराधना में सम्यक् प्रकारेण अभ्युत्थित होता हूँ अर्थात् तैयार होता हूँ। धर्माराधना के क्षेत्र में दृढ़ता के साथ खड़ा होता है।

ज्ञ-परिज्ञा एवं प्रत्याख्यान-परिज्ञा—आचाराङ्ग आदि आगम साहित्य में दो प्रकार की परिज्ञाओं का उल्लेख आता है—एक ज्ञ-परिज्ञा, दूसरी प्रत्याख्यान-परिज्ञा। ज्ञ-परिज्ञा का अर्थ है

हेय-उपादेय-ज्ञेय पदार्थ को स्वरूपत: जानना। प्रत्याख्यान-परिज्ञा का अर्थ है हेय का प्रत्याख्यान करना, छोड़ना। प्रत्याख्यान के भी दो प्रकार होते हैं—१. सुप्रत्याख्यान एवं २. दुष्प्रत्याख्यान।

प्रत्याख्यान का स्वरूप तथा जिसका प्रत्याख्यान किया जाता है उन पदार्थों का स्वरूप जानकर प्रत्याख्यान करना सुप्रत्याख्यान है। इसके विपरीत प्रत्याख्यान अर्थात् स्वरूप जाने-समझे विना किया जाने वाला प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है।

असंयम, प्राणातिपात आदि, अब्रह्मचर्य-मैथुनवृत्ति, अकल्प-अकृत्य, अज्ञान-मिथ्याज्ञान, अक्रिया-असत्क्रिया, मिथ्यात्व आदि आत्मविरोधी प्रतिकूल आचरण को त्याग कर संयम, ब्रह्मचर्य, कृत्य, सम्यग्ज्ञान आदि को स्वीकार करते हुए यह आवश्यक है कि पहले असंयम आदि का स्वरूप ज्ञात कर लिया जाय। जब तक यह पता नहीं चलेगा कि असंयम आदि क्या है, उनका स्वरूप क्या है, उनके होने से क्या हानि है तथा उन्हें त्यागने से साधक को क्या लाभ है, तब तक उन्हें त्यागा कैसे जाएगा? अत: प्रत्याख्यान-परिज्ञा से पहले ज्ञ-परिज्ञा अत्यन्त आवश्यक है। अज्ञानी साधक की कठोर से कठोर क्रियाएँ एवं उग्र से उग्र बाह्य साधना भी संसार-परिभ्रमण का ही कारण होती है।

प्रस्तुत पाठ में **'असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि'** इत्यादि पाठ में जो 'परियाणामि' किया है उसका अर्थ न केवल जानना है और न केवल छोड़ना, अपितु सम्मिलित अर्थ है 'जानकर छोड़ना।'

आचार्य जिनदास भी कहते हैं—

"परियाणामित्ति ज्ञ-परिण्णया जाणामि, पच्चक्खाण-परिण्णया पच्चक्खामि।"

अकप्प-कप्प—कल्प का अर्थ है आचार। अत: चरण-करण रूप आचार-व्यवहार को आगम की भाषा में कल्प कहा जाता है। इसके विपरीत अकल्प होता है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं अकल्प-अकृत्य को जानता तथा त्यागता हूँ और कल्प-कृत्य को स्वीकार करता हूँ।[1]

आचार्य जिनदास ने सामान्यत: कहे हुए एक-विध असंयम के ही विशेष विवक्षा भेद से दो भेद किये हैं—'मूलगुण-असंयम और उत्तरगुण-असंयम।' और फिर अब्रह्म शब्द से मूलगुण-असंयम का तथा अकल्प शब्द से उत्तरगुण-असंयम का ग्रहण किया है।[2] आचार्यश्री के कथनानुसार प्रतिज्ञा का रूप इस प्रकार होता है—"मैं मूलगुण-असंयम का विवेकपूर्वक परित्याग करता हूँ और मूलगुण संयम को स्वीकार करता हूँ।"

अन्नाण-नाण—अज्ञान का अर्थ यहाँ ज्ञानावरणकर्म के उदय से होने वाला ज्ञान का अभाव नहीं अपितु मिथ्याज्ञान समझना चाहिये। ज्ञान का अभाव अर्थ लिया जाए तो उसके त्यागने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जो है ही नहीं, उसका त्याग कैसा!

---

१. "अकल्पोऽकृत्यमाख्यायते कल्पस्तु कृत्यमिति।" —आचार्य हरिभद्र

२. "सो य असंजमो विसेसतो दुविहो—मूलगुण-असंजमो उत्तरगुणअसंजमो य। अतो सामण्णेण भणिऊण संवेगात्थं विसेसतो चेव भणति अबंभं अबंभग्गहणेण मूलगुणा भण्णंति त्ति एवं....अकप्पग्गहणेण उत्तरगुणत्ति।" —आवश्यकचूर्णि

ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से ज्ञान प्राप्त होता है और मिथ्यात्व का उदय उसे मिथ्या बना देता है। यही मिथ्या ज्ञान यहाँ अज्ञान कहा गया है। सम्यग्दर्शन-सहचर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। उसे यहां ज्ञान शब्द से कहा गया है।

अकिरिया-किरिया—अक्रिया अर्थात् नास्तिवाद को जानता तथा त्यागता हूँ। आचार्य हरिभद्र अक्रिया को अज्ञान का ही विशेष भेद मानते हैं और क्रिया को ज्ञान का भेद कहते हैं—"अक्रिया नास्तिकवादः क्रिया सम्यग्वादः।" लोक-परलोक, धर्म-अधर्म आदि पर विश्वास न रखना नास्तिक-वाद है। इसके विपरीत लोक-परलोक, धर्म-अधर्म आदि पर विश्वास रखना आस्तिकवाद है।

आचार्य जिनदास के अनुसार—"अप्पसत्था किरिया अकिरिया, इतरा किरिया इति।" अर्थात् अयोग्य क्रिया को अक्रिया एवं प्रशस्त-योग्य क्रिया को क्रिया कहते हैं।

मिच्छत्त-सम्मत्त—पाप के अठारह प्रकार हैं। उनमें अन्तिम अठारहवां पाप मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही एक ऐसा पाप है जो समस्त पापों का पोषक, रक्षक एवं वर्धक है। इसी का फल है कि जीव को अनादि काल से जन्म-मरणादि समस्त दुःखों को सहन करना पड़ा है। जब तक मिथ्यात्व है, तब तक सभी पाप सुरक्षित हैं।

मिथ्यात्व, संसार-चक्र में फंसाये रखने वाला है और सम्यक्त्व, मोक्ष का परम सुख प्रदान कर आत्मा को परमात्मा बनाने वाला है। मिथ्यात्व मारक है और सम्यक्त्व तारक है, रक्षक है। इस प्रकार साधक मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व का स्वरूप समझकर मिथ्यात्व का त्याग करता है और सम्यक्त्व को स्वीकार करता है।

अबोहि—बोहि—"अबोधिः—मिथ्यात्वकार्य, बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति।"

—आचार्य हरिभद्र।

अबोधि मिथ्यात्व का कार्य है और बोधि सम्यक्त्व का कार्य।

असत्य का दुराग्रह रखना, संसार के कामभोगों में आसक्ति- रखना, धर्म की निंदा करना, वीतराग अरिहंत भगवान् का अवर्णवाद बोलना इत्यादि मिथ्यात्व के कार्य हैं। सत्य का आग्रह रखना, संसार के कामभोगों से उदासीन रहना, धर्म के प्रति दृढ आस्था रखना, प्राणिमात्र पर प्रेम एवं करुणा का भाव रखना इत्यादि सम्यक्त्व के कार्य हैं। अबोधि को जानकर अर्थात् समझकर त्यागना एवं बोधि को स्वीकार करना।

अमग्ग-मग्ग—अमार्ग—हिंसा आदि अमार्ग—कुमार्ग को जानता तथा त्यागता हूँ और अहिंसा आदि मार्ग—सन्मार्ग-मोक्षमार्ग को स्वीकार करता हूँ। अथवा जिनमत से विरुद्ध पार्श्वस्थ निह्नव तथा कुतीर्थिक-सेवित अमार्ग को छोड़कर ज्ञानादि रत्नत्रय रूप मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

जं संभरामि, जं च न संभरामि

जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि—मानव के मन की अनादिकालीन कामना यही रही है कि वह अपने कदम प्रगति की ओर बढ़ाये। चाहे विद्यार्थी हो अथवा व्यवसायी, चाहे कलाकार हो अथवा कोई अन्य साधक, वह चाहता यही है कि उसका निरन्तर विकास होता रहे और कदम आगे से आगे बढ़ते रहें। किन्तु एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि मनुष्य

की वास्तविक प्रगति धन बढ़ा लेने में, प्रसिद्धि प्राप्त करने में, भौतिक ज्ञान प्राप्त करके विद्वान् कहलाने में अथवा नेता बन जाने में नहीं है, अपितु आत्मिक गुणों की वृद्धि करने में है। आत्मिक गुणों की वृद्धि के लिए अपनी भूलों का अथवा दोषों का अवलोकन करते रहना आवश्यक है। साधक जब तक छद्मस्थ है, घातिकर्मोदय से युक्त है, तब तक जीवन में दोषों का होना स्वाभाविक है। वह भूल या दोष जानकारी में हो सकता है अथवा अनजान में भी, अर्थात् असंयम अथवा दोष की स्मृति रहती है और कभी नहीं भी रहती है। साधक उन सबका प्रतिक्रमण करता है। इस प्रकार ज्ञानपूर्वक प्रतिक्रमण करने से साधक की प्रगति होती है।

'जं संभरामि' आदि से लेकर 'जं च न पडिक्कमामि' तक के सूत्रांश का सम्बन्ध 'तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि' से है। प्रस्तुत सूत्र का भाव यह है कि जिनका स्मरण करता हूँ अथवा जिनका स्मरण नहीं करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण नहीं करता हूँ, उन सब दैवसिक अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

शंका—जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ फिर भी उनका प्रतिक्रमण करता हूँ—इसका अर्थ क्या है? प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण करना कुछ संगत प्रतीत नहीं होता?

आचार्य जिनदास ने उपर्युक्त शंका का सुन्दर समाधान किया है। वे—'पडिक्कमामि', का अर्थ 'परिहरामि' करते हैं—

"संघयणादि-दौर्बल्यादिना जं पडिक्कमामि-परिहरामि करणिज्जं, जं च न पडिक्कमामि अकरणिज्जं। —आवश्यकचूर्णि

अर्थात् शारीरिक दुर्बलता आदि किसी विशेष परिस्थितिवश यदि मैंने करने योग्य सत्कार्य छोड़ दिया हो—अर्थात् न किया हो, और न करने योग्य कार्य किया हो तो उस सब अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ।

समणोऽहं संजय-विरय पडिहय०....इस सूत्रांश का अर्थ है—"मैं श्रमण हूँ, संयम-विरत-प्रतिहत—प्रत्याख्यात पापकर्मा हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिसम्पन्न हूँ और मायामृषाविवर्जित हूँ।"

'श्रमण' शब्द 'श्रम्' धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का मर्मोद्‌घाटन करते हुए श्रमण का अर्थ तपस्वी करते हैं। जो अपने ही श्रम से तप:-साधना से मुक्ति-लाभ करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं।

संयत का अर्थ है—'संयम में सम्यक् यतन करने वाला।' अहिंसा, सत्य आदि कर्तव्यों में साधक को सदैव सम्यक् प्रयत्न करते रहना चाहिये। 'संजतो—सम्मं जतो, करणीयेषु जोगेषु सम्यक्-प्रयत्नपर इत्यर्थः'। —आवश्यकचूर्णि

विरत का अर्थ है—सब प्रकार के सावद्य योगों से विरति—निवृत्ति करने वाला, अर्थात् पहले किये हुए पापों की निन्दा और भविष्य काल के लिए संवर करके सकल पापों से रहित होना।

प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा अर्थात् भूतकाल में किए गए पापकर्मों की निन्दा एवं गर्हा के द्वारा प्रतिहत (विनष्ट) करने वाला और वर्तमान तथा भविष्य में होने वाले पाप कर्मो को नहीं करने

का प्रतिज्ञा रूप प्रत्याख्यान के द्वारा परित्याग करने वाला। यह विशेष साधक की त्रैकालिक जीवन-शुद्धि का प्रतीक है। साधना का अर्थ है—पाप कर्मों पर त्रिकाल विजयी होना। कहा भी है—'पडिहतं—अतीतणिंदणं—गरहणादीहिं, पच्चक्खातं सेसं अकरणतया पावकम्मं पावाचारं जेण स तथा।' —आचार्य जिनदास।

अनिदान—निदान का अर्थ है—निश्चय रूप से यथेष्ट प्राप्ति की आकांक्षा। अनिदान का अर्थ है अनासक्त भाव से किया जाने वाला तप आदि अनुष्ठान। जैसे किसी व्यापारी ने लाख रुपये का सामान खरीदना चाहा, यदि उसके पास में लाख रुपये से अधिक या लाख रुपये हैं तब तो वह मनचाहा लाख रुपये का माल खरीद सकेगा। किन्तु उसके पास लाख से कम हैं तो वह लाख रुपये का माल नहीं खरीद सकेगा। इसी प्रकार यदि साधक के पास पुण्य कर्म का आधिक्य है तो निदान करने पर उसे यथेष्ट ऋद्धि प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। लेकिन वह ऋद्धि निदान करने से उसी जन्म में परिसमाप्त हो जाती है। निदान के परिणामस्वरूप आगे अधोगति में उस आत्मा को उत्पन्न होना पड़ता है। आगमकारों के कथनानुसार वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों को निदान से ही त्रिखण्ड के साम्राज्य आदि की ऋद्धि उपलब्ध होती है। तत्पश्चात् उनका अधोगमन ही होता है। इसीलिए लोकोत्तर आप्त पुरुषों का साधकों के लिए निर्देश है कि वह निदान रहित तप करे और यह प्रतिज्ञा करे कि मुझे संसार के लुभावने भोगों में कोई आसक्ति नहीं है, मेरी साधना केवल आत्मशुद्धि के लिए है, मेरा ध्येय बंधन नहीं, मुक्ति है। ऐसे दृढ संकल्प को लेकर साधक अपनी साधना के द्वारा साध्य की उपलब्धि कर सकता है।

दृष्टिसम्पन्न—दृष्टिसंपन्न का अर्थ है—सम्यग्दर्शन रूप विशुद्ध दृष्टि से सम्पन्न। मोक्षाभिलाषी साधक के लिए शुद्ध दृष्टि का होना अनिवार्य है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में साधक को हिताहित का सच्चा विवेक नहीं हो सकता तथा धर्माधर्म, आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान भी नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि साधक ही उस प्रकार के मिथ्यावादों से बच सकता है। सत्य और तथ्य का अन्वेषण शुद्ध दृष्टिसम्पन्न साधक ही कर सकता है। सम्यग्दर्शन वस्तुतः सब गुणों का मूल है 'दिट्ठिसम्पन्नो'—अर्थात् 'सव्वगुण—मूलभूतगुणयुक्तत्वम्।' —आचार्य जिनदास।

सम्यग्दृष्टि आत्मा संसार में रहकर भी सब कुछ यथावत् देख सकता है, मिथ्यादृष्टि नहीं। जैसे निर्मल काच की पेटी में बन्द होते हुए भी व्यक्ति बाहर के दृश्यमान पदार्थों को देख सकता है, किन्तु लोहे की पेटी में बन्द व्यक्ति नहीं देख सकता। कोई तैराक, तैरने की कला जिसको याद हो, गहरे पानी में तल तक पहुंच कर टनों पानी उसके सिर पर होने पर भी डूब नहीं सकता, किन्तु जो तैरने की कला से अनभिज्ञ है, थोड़े-से पानी में भी डूब सकता है। जैनदर्शन में साधना अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान से ही प्रारंभ होती है।

माया-मृषाविवर्जित—माया-मृषा से रहित। माया-मृषा अठारह महापापों में सत्तरहवां महापाप है। तीन शल्य में प्रथम शल्य है। जैसे पैर में शूल गहरा उतर जाता है और दिखाई तो नहीं देता, किन्तु पथिक के कदम शूल की चुभन के कारण पथ पर बढ़ नहीं सकते, इसी प्रकार मायावी अर्थात् अपने दोषों को छिपाने वाले साधक का एक कदम भी अपनी साध्य की सिद्धि के लिए साधना पथ पर नहीं बढ़ सकता है। अंधेरे में जैसे सांप और रस्सी को नहीं पहचाना जा

सकता है, इसी प्रकार माया से मूढ़ बना व्यक्ति अधर्म और धर्म की पहचान भी नहीं कर सकता। अतः साधक को चाहिये कि वह अपने पूर्वकृत पापों की वर्तमान में आलोचना और प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्धि कर ले। स्वस्थ शरीर में यदि फोड़ा हो जाय तो नस्तर के द्वारा डाक्टर आपरेशन करके उसका मवाद निकाल सकता है। बिना आपरेशन के यदि मल्हम पट्टी कर दी जाएगी तो मवाद पूरे शरीर में भी फैल सकता है।

अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु.......—प्रस्तुत पाठ के अन्त में अढ़ाई द्वीप, पन्द्रह कर्मभूमियों में विद्यमान समस्त साधुओं को मस्तक नमाकर नमस्कार किया गया है। अभिप्राय यह है—

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और अर्ध पुष्करद्वीप तथा अपहरण की अपेक्षा से लवण एवं कालोदधि समुद्र और उनमें भी पन्द्रह क्षेत्र—कर्मभूमियां ही श्रमणधर्म की साधना का क्षेत्र हैं। आगे के क्षेत्रों में न मानव हैं और न श्रमणधर्म की साधना है। अतः अढ़ाई द्वीप के मानवक्षेत्र में जो भी साधु, साध्वी रजोहरण, पूंजनी और प्रतिग्रह अर्थात् पात्र को धारण करने वाले, पांच महाव्रतों के पालक और अठारह हजार शीलाङ्गरथ के धारक तथा अक्षत आचारवान्—आधाकर्म आदि ४२ दोषों को टालकर आहार लेने वाले, ४७ दोष टालकर आहार भोगने वाले, अखण्ड आचार का पालने वाले ऐसे स्थविरकल्पी, जिनकल्पी मुनिराजों को शिर से, मन से और मस्तक से वन्दना करता हूँ।

शिरसा, मनसा, मस्तकेन—प्रस्तुत सूत्र में 'सिरसा, मणसा मत्थएण वंदामि' पाठ आता है। इसका अर्थ है—शिर से, मन से और मस्तक से वन्दना करता हूँ। प्रश्न हो सकता है कि शिर और मस्तक तो एक ही हैं, फिर इनका पृथक् उल्लेख क्यों किया गया? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—शिर, समस्त शरीर में मुख्य है। अतः शिर से वन्दना करना अर्थात् शरीर से वन्दन करना। मन अन्तःकरण है, अतः यह मानसिक वन्दना का द्योतक है।

'मत्थएण वन्दामि' का अर्थ है—मस्तक झुकाकर वन्दना करता हूँ। यह वाचिक वन्दना का रूप है, अतएव मानसिक, वाचिक और कायिक त्रिविध वन्दना का स्वरूप-निर्देश होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

जैनधर्म के अनुसार अहंकार नीचगोत्र-कर्म के वन्ध का कारण है तथा नम्रता से उच्चगोत्र का बंध होता है। अतः जो साधक नम्र हैं, वृद्धों का आदर करते हैं, सद्गुणी के प्रति पूज्य भाव रखते हैं, वे ही उच्च हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। जैनधर्म गुणों का पुजारी है। जैनधर्म में विनय एवं नम्रता को तप कहा है। कहा है—

'विणओ जिणसासणमूलं,' 'विणयमूलो धम्मो।'

विनय जिनशासन का मूल है, विनय धर्म का मूल है।

दशवैकालिक सूत्र में भी विनय का गुणगान किया गया है। विनयाध्ययन में वृक्ष का रूपक देते हुए कहा है—

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साह-प्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ से पुप्फं च फलं रसो य॥

एवं धम्मस्स विणग्रो, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्ती सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥ —दश. ६।२।१-२

अर्थात्—जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और फिर क्रम से पत्र, पुष्प, फल एवं रस उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार धर्मवृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है।

विणग्रो सासणे मूलं, विणीग्रो संजग्रो भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कग्रो धम्मो कओ तवो ॥ —आवश्यकचूर्णि।

जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप!

शिष्य का अहंकार व उद्दण्डता एवं अनुशासनहीनता गुरु के मन को खिन्न कर देती है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ॥

अर्थात्—जैसे उत्तम घोड़े का शिक्षक प्रसन्न होता है, वैसे ही विनीत शिष्यों को ज्ञान देने में गुरु प्रसन्न होते हैं। किन्तु दुष्ट घोड़े का शिक्षक और अविनीत शिष्य के गुरु खेदखिन्न होते हैं।

नम्रता मानव-जीवन का सुन्दर आभूषण है। इससे मनुष्य के गुण सौरभपूर्ण हो जाते हैं। विनम्रता जीवन का महान् गुण है। प्रस्तुत सूत्र में अखण्ड आचार—चारित्र को पालने वाले मुनिराजों को साधक शिर से, मन से और मस्तक से वन्दन करता है, अथवा 'वन्दन करता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

अठारह हजार शीलांग—शास्त्रकारों ने अठारह हजार शील-अंगों की व्याख्या इस प्रकार की है—

जोगे करणे सण्णा, इंदिय भोम्माइ समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहि अब्भत्था, अट्ठारह सीलसहस्साइं ॥

अर्थात्—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पांच इन्द्रियां, दस प्रकार के पृथ्वीकाय आदि जीव और दस श्रमणधर्म—इन सबका परस्पर गुणाकार करने से शील के १८ हजार भेद होते हैं।

'शील' का अर्थ है 'आचार'। भेदानुभेद की दृष्टि से आचार के अठारह हजार प्रकार होते हैं। दसविध श्रमणधर्म—क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग एवं ब्रह्मचर्य। दशविध श्रमणधर्म के धारक मुनि, पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावरों एवं द्वीन्द्रिय आदि चार त्रसों और एक अजीव—इस प्रकार दश का आरंभ नहीं करते हैं।

अठारह हजार शीलाङ्ग रथ इस प्रकार हैं—१. पृथ्वीकाय आरंभ, २. अप्काय आरंभ, ३. तेजस्काय आरंभ, ४. वायुकाय आरंभ, ५. वनस्पतिकाय आरंभ, ६. द्वीन्द्रिय आरंभ, ७. त्रीन्द्रिय आरंभ, ८. चतुरिन्द्रिय आरंभ, ९. पंचेन्द्रिय आरंभ, १०. अजीव आरंभ। ये दस भेद क्षान्ति के हुए, इसी प्रकार मुक्ति, आर्जव, यावत् ब्रह्मचर्य के ये सब श्रोत्रेन्द्रिय के साथ १०० भेद हुए, इसी प्रकार

चक्षुरिन्द्रिय के १००, घ्राणेन्द्रिय के १००, रसनेन्द्रिय के १००, स्पर्शेन्द्रिय के १००, ये सव ग्राहार-संज्ञा के ५०० भेद हुए, इसी प्रकार भयसंज्ञा के ५००, मैथुनसंज्ञा के ५००, परिग्रहसंज्ञा के ५००, ये सव २००० भेद हुए, इन्हें न करने, न कराने ग्रौर न ग्रनुमोदन करने के द्वारा तिगुणा करने पर ६००० भेद हुए, फिर इन्हें मन वचन ग्रौर काया से तिगुणा करने पर १८००० भेद शीलाङ्गरथ के होते हैं।

बड़ी संलेखना का पाठ

अह भंते ! अपच्छिममारणंतिय संलेहणा झूसणा ग्राराहणा पौषधशाला, पूंजे, पूंजके उच्चार-पासवणभूमिका पडिलेहे, पडिलेह के, गमणागमणे, पडिक्कमे, पडिक्कम के, दर्भादिक संथारा संथारे, संथारके दर्भादिक संथारा दुरूहे, दुरूहके पूर्व तथा उत्तर दिशा सन्मुख पल्यांकादिक ग्रासन से बैठे, बैठ के 'करयलसंपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए ग्रंजलि कट्टु' एवं वयासी 'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं' ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके, 'नमोत्थु णं ग्ररिहंताणं भगवंताणं जाव संपाविउकामाणं' जयवन्ते वर्तमान काले महाविदेह क्षेत्र में विचरते हुए तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार करके ग्रपने धर्माचार्यजी महाराज को नमस्कार करता हूँ। साधु साध्वी प्रमुख चारों तीर्थ को खमाकर, सर्व जीवराशि को खमाकर, पहले जो व्रत ग्रादरे हैं उनमें जा अतिचार दोष लगे हों, वे सर्व आलोच के, पडिक्कम के, निन्द के निःशल्य होकर के, सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि, सव्वं आदिण्णादाणं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि, सव्वं कोहं माणं जाव मिच्छादंसणसल्लं पच्चक्खामि, सव्वं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि ग्रन्नं न समणुजाणामि मणसा, वयसा, कायसा ऐसे अठारह पापस्थानक पच्चक्ख कर, सव्वं असणं पाणं, खाइमं, साइमं, चउव्विहंपि ग्राहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए ऐसे चारों ग्राहार पच्चक्ख कर जं पि य इमं शरीरं इट्ठं, कंतं, पियं, मणुण्णं, मणामं, धिज्जं, विसासियं सम्मयं, ग्रणुमयं, बहुमयं भण्डकरण्डसमाणं रयणकरण्डभूयं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं बाला, मा णं चोरा, मा णं दंसमसगा, मा णं वाइयं पित्तियं, कप्फियं, संभीयं, सण्णिवाइयं विविहा रोगायंका परिसहा उवसग्गा फासा फुसन्तु, एवं पि य णं चरमेहिं उस्सासंणिस्सासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु ऐसे शरीर को वोसिरा कर कालं ग्रणवकंखमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा, प्ररूपणा तो है, फरसना करूं तब शुद्ध होऊं, ऐसे ग्रपच्छिम मारणंतिय संलेहणा, झूसणा, आराहणाए पंच ग्रइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते ग्रालोऊं इहलोगा-संसप्पओगे, परलोगासंसप्पग्रोगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मृत्यु का समय निकट ग्राने पर संलेखना तप का प्रीति पूर्वक सेवन करने के लिए सर्वप्रथम पौपधशाला का प्रमार्जन करे। मल-मूत्र त्यागने की भूमि का प्रतिलेखन करे। चलने-फिरने की क्रिया का प्रतिक्रमण कर पूर्व या उत्तर दिशा की ग्रोर मुंह करके पल्यंक (पालथी) ग्रादि ग्रासन लगाकर दर्भादिक के ग्रासन पर बैठे ग्रौर हाथ जोड़ कर शिर से ग्रावर्तन करता हुग्रा

मस्तक पर हाथ जोड़कर "नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं" इस प्रकार बोलकर सिद्ध भगवान् को नमस्कार करे। तत्पश्चात् "नमोत्थुण अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपाविउकामाणं" ऐसा बोलकर वर्त्तमान काल में महाविदेह क्षेत्र में जो तीर्थंकर विचर रहे हैं, उनको नमस्कार करे। फिर अपने धर्माचार्य जी महाराज को नमस्कार करे। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इस प्रकार चतुर्विध संघ से क्षमायाचना करे, पुनः समस्त जीवों से क्षमा मांगे। पहले धारण किये हुए व्रतों में जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना और निन्दा करे। सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह—इन पांच पापों का तथा क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य आदि अठारह पापस्थानों का तथा सम्पूर्ण पापजन्य योग का तीन करण और तीन योग से त्याग करे। जीवनपर्यन्त चारों प्रकार के आहार का त्याग करे। इसके पश्चात् जो अपना शरीर मनोज्ञ है, उस पर से ममत्व हटावे और संलेखना संबंधी पापों अतिचारों को दूर करके शुद्ध अनशन करे। इस प्रकार श्रद्धा और प्ररूपणा की शुद्धि के लिये नित्य पाठ करे और अन्तिम समय में स्पर्शना द्वारा शुद्ध हो।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—**इट्ठं**—इष्ट, इच्छानुकूल। **कंतं**—कमनीय। **पियं**—प्रिय, प्यारा। **मणुण्णं**—मनोज्ञ, मनोहर। **मणामं**—अत्यन्त मनोहर। **धिज्जं**—धारण करने योग्य, धैर्यशाली। **विसासियं**—विश्वास करने योग्य। **संमयं**—सन्मान को प्राप्त। **अणुमयं**—विशेष सम्मान को प्राप्त, **बहुमयं**—बहुत सन्मान को प्राप्त। **भण्डकरण्डगसमाणं**—आभूषणों के करण्डक (डिब्बा) के समान। **रयणकरण्डगभूयं**—रत्नों के करण्डक के समान। **मा णं सीयं**—शीत (सर्दी) न हो। **मा णं उण्हं**—उष्णता (गर्मी) न हो। **मा णं खुहा**—भूख न लगे। **मा णं पिवासा**—प्यास न लगे। **मा णं वाला**—सर्प न काटे। **मा णं चोरा**—चोरों का भय न हो। **मा णं दंसमसगा**—डांस और मच्छर न सतावें। **मा णं वाहियं**—व्याधियां न हों। **पित्तियं**—पित्त। **कप्फियं**—कफ। **संभीमं**—भयंकर। **सन्निवाइयं**—सन्निपात। **विविहा**—अनेक प्रकार के। **रोगायंका**—रोग और आतंक। **परिसहा**—क्षुधा आदि का कष्ट। **उवसग्गा**—उपसर्ग (देव, तिर्यंच आदि द्वारा दिया गया कष्ट।) **फासा फुसन्तु**—सम्बन्ध करें। **चरमेहिं**—अन्त के। **उस्सासनिस्सासेहिं**—उच्छ्वास-निःश्वासों (श्वासोच्छ्वासों) से। **वोसिरामि**—त्याग करता हूँ। **त्ति कट्टु**—ऐसा करके। **कालं अणवकंखमाणे**—काल की आकांक्षा (वांछा) नहीं करता हुआ। **विहरामि**—विहार करता हूँ, विचरण करता हूँ। **इहलोगासंसप्पओगे**—इस लोक के चक्रवर्ती आदि के सुखों की इच्छां करना। **परलोगासंसप्पओगे**—परलोक सम्बन्धी इन्द्र के सुखों की इच्छा करना। **जीवियासंसप्पओगे**—जीवित रहने की इच्छा करना। **मरणासंसप्पओगे**—महिमा, पूजा न देखकर अथवा विशेष दुःख होने से मरने की इच्छा करना। **कामभोगासंसप्पओगे**—कामभोगों की इच्छा करना। **मा**—मत। **मज्झ**—मेरे। **हुज्ज**—हो। **मरणंते वि**—मृत्यु हो जाने पर भी। **सद्धापरूवणम्मि**—श्रद्धा प्ररूपणा में। **असहाभावो**—विपरीत भाव।

पांचों पदों की वन्दना

पहले पद श्री अरिहन्त भगवान् जघन्य वीस तीर्थंकरजी, उत्कृष्ट एक सौ साठ तथा एक सौ सत्तर देवाधिदेवजी, उनमें वर्त्तमान काल में वीस विहरमान जी महाविदेह क्षेत्र में विचरते हैं। एक हजार आठ लक्षण के धरणहार, चौंतीस अतिशय, पैंतीस वाणी करके विराजमान, चौसठ इन्द्रों के

वन्दनीय, अठारह दोष रहित, बारह गुण सहित, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त बलवीर्य, अनन्त सुख, दिव्यध्वनि, भामण्डल, स्फटिक सिंहासन, अशोक वृक्ष, कुसुमवृष्टि, देवदुन्दुभि, छत्र धरावे, चंवर विजावे, पुरुषाकार पराक्रम के धरणहार, अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में विचरे, जघन्य दो करोड़ केवली और उत्कृष्ट नव करोड़ केवली, केवलज्ञान केवलदर्शन के धरणहार, सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के जाननहार—

ऐसे श्री अरिहंत भगवन्त महाराज आपकी दिवस एवं रात्रि संबंधी अविनय आशातना की हो तो हे अरिहंत भगवन्! मेरा अपराध बारंबार क्षमा करिये। हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ वार नमस्कार करता हूँ।

(यहां तिक्खुत्तो का पाठ बोलना)

आप मंगलिक हो, उत्तम हो, हे स्वामिन्! हे नाथ! आपका इस भव, परभव एवं भव-भव में सदाकाल शरण हो।

दूसरे पद श्री सिद्ध भगवान् पन्द्रह भेदे अनन्त सिद्ध हुए हैं—तीर्थसिद्धा, अतीर्थसिद्धा, तीर्थंकरसिद्धा, अतीर्थंकरसिद्धा, स्वयंबुद्धसिद्धा, प्रत्येकबुद्धसिद्धा, बुद्धबोधितसिद्धा, स्त्रीलिंगसिद्धा, पुरुषलिंगसिद्धा, नपुंसकलिंगसिद्धा, स्वलिंगसिद्धा, अन्यलिंगसिद्धा, गृहस्थलिंगसिद्धा, एकसिद्धा, अनेकसिद्धा। जहां जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र्य नहीं, कर्म नहां, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृषा नहीं, ज्योत में ज्योत विराजमान, सकल कार्य सिद्ध करके चवदे प्रकारे पन्द्रह भेदे अनन्तसिद्ध भगवान् हुए हैं। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायक सम्यक्त्व, अनन्तसुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलघु, अनन्तवीर्य्य, ये आठ गुण करके सहित हैं।

ऐसे श्री सिद्ध भगवन्त जी महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो वारम्वार हे सिद्ध भगवान्! मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमा कर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ वार नमस्कार करता हूँ। यावत् भव-भव सदा काल शरण हो।

तीसरे पद श्री आचार्य महाराज छत्तीस गुण करके विराजमान हैं, पांच महाव्रत पाले, पांच आचार पाले, पांच इन्द्रिय जीते, चार कषाय टाले, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पाले, पांच समिति, तीन गुप्ति शुद्ध आराधे, ये छत्तीस गुण और आठ सम्पदा (१. आचार सम्पदा, २. श्रुत सम्पदा, ३. शरीर सम्पदा ४. वचन सम्पदा, ५. वाचना संपदा, ६. मति सम्पदा, ७. प्रयोगमति संपदा, ८ परिज्ञा संपदा) सहित हैं।

ऐसे आचार्य महाराज न्यायपक्षी, भद्रिक परिणामी, त्यागी, वैरागी, महागुणी, गुणानुरागी ऐसे श्री आचार्य जी महाराज आपकी दिवस एवं रात्रि संबंधी अविनय आशातना की हो तो वारम्वार मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ वार नमस्कार करता हूँ यावत् भव-भव सदा काल शरण हो।

चौथे पद श्री उपाध्याय जी महाराज पच्चीस गुण करके सहित (ग्यारह अङ्ग, बारह उपांग चरणसत्तरी, करणसत्तरी इन से युक्त) हैं तथा अङ्ग-उपांग सूत्रों को मूल अर्थ सहित जानें।

ग्यारह अंग—आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग, समवायांग, विवाह-पन्नत्ति (भगवती), णायाधम्मकहा (ज्ञाताधर्मकथा), उपासकदसा, अंतगडदसा, अणुत्तरोववाई, पण्हावागरणा (प्रश्नव्याकरण), विवाग-सुयं (विपाकश्रुत)।

बारह उपांग—उववाई, रायप्पसेणी, जीवाजीवाभिगम, पन्नवणा, जम्बुदीवपन्नत्ति, चन्दपन्नत्ति, सूरपन्नत्ति, निरयावलिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वह्निदशा।

चार मूलसूत्र—उत्तरज्झयणं (उत्तराध्ययन), दसवेयालियसुत्तं (दशवैकालिकसूत्र) णंदी सुत्तं (नन्दीसूत्र) अणुओगद्दार (अनुयोगद्वार)।

चार छेदसूत्र—दसासुयक्खंधो (दशाश्रुतस्कंध), विहक्कप्पो (वृहत्कल्प), ववहारसुत्तं (व्यवहारसूत्र), णिसीहसुत्तं (निशीथसूत्र) और बत्तीसवां आवस्सगं (आवश्यक) तथा सात नय, चार निक्षेप, स्वमत और परमत के जानकार, जिन नहीं पर जिन सरीखे, केवली नहीं पर केवली सरीखे।

ऐसे श्री उपाध्याय जी महाराज मिथ्यात्व रूप अंधकार के मेटनहार, समकित रूप उद्योत के करनहार, धर्म से डिगते हुए प्राणी को स्थिर करे, सारए, वारए, धारए, इत्यादि अनेक गुण करके सहित हैं ऐसे श्री उपाध्याय जी महाराज आपकी दिवस एवं रात्रि सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो वारम्वार हे उपाध्यायजी महाराज! मेरा अपराध क्षमा करिये, हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ वार नमस्कार करता हूँ (करती हूँ)। यावत् भव-भव सदा काल शरण हो।

पांचवें पद 'णमो लोए सव्वसाहूणं' अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र रूप लोक में सर्व साधुजी महाराज जघन्य दो हजार करोड़, उत्कृष्ट नव हजार करोड़ जयवन्त विचरें, पांच महाव्रत, पांच इन्द्रिय जीतें चार कषाय टालें, भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे, क्षमावन्ता वैराग्यवन्ता, मन समाधारणिया, वयसमाधारणिया, कायसमाधारणिया, नाणसंपन्ना, दंसणसंपन्ना, चारित्रसंपन्ना, वेदनीयसमाअहियासनीया, मरणान्तियसमाअहियासनीया, ऐसे सत्ताईस गुण करके सहित हैं। पाँच आचार वाले, छः काय की रक्षा करें, आठ मद छोड़ें, दश प्रकार यति धर्म धारें, बारह भेदे तप करें, सत्रह भेदे संयम पालें, बावीस परिषह जीतें, बयालीस दोष टालकर आहार पानी लेवें, सैंतालीस दोष टालकर भोगवें, बावन अनाचार टालें, तेड़िया आवे नहीं, नेतिया जीमे नहीं, सचित्त के त्यागी, अचित्त के भोगी इत्यादि मोह ममता रहित हैं।

ऐसे मुनिराज महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो वारम्वार हे मुनिराज! मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ वार नमस्कार करता हूँ (करती हूँ), यावत् भव-भव में सदा काल शरण हो।

दर्शनसम्यक्त्व का पाठ

अरिहन्तो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं॥
परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावण्ण-कुदंसण-वज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा॥

इअ सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा ते आलोउं—संका, कंखा, वितिगिच्छा, पर-पासंडपसंसा, परपासंडसंथवो।

इस प्रकार श्री समकित रत्न पदार्थ के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं—

१. श्री जिनवचन में शंका की हो,
२. परदर्शन की आकांक्षा की हो,
३. परपाखंडी की प्रशंसा की हो,
४. परपाखंडी का परिचय किया हो,
५. धर्मफल के प्रति सन्देह किया हो,

ऐसे मेरे सम्यक्त्व-रत्न पर मिथ्यात्व रूपी रज-मैल लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—राग-द्वेष आदि आभ्यन्तर शत्रुओं को जीतने वाले वीतराग अरिहंत भगवान् मेरे देव हैं, जीवन पर्यन्त संयम की साधना करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु हैं तथा वीतरागकथित अर्थात् श्री जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट अहिंसा, सत्य आदि ही मेरा धर्म है। यह देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा-स्वरूप सम्यक्त्व व्रत मैंने यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया है एवं मुझको जीवादि पदार्थों का परिचय हो, भली प्रकार जीवादि तत्त्वों को तथा सिद्धान्त के रहस्य को जानने वाले साधुओं की सेवा प्राप्त हो, सम्यक्त्व से भ्रष्ट तथा मिथ्यात्वी जीवों की संगति कदापि न हो, ऐसी सम्यक्त्व के विषय में मेरी श्रद्धा वनी रहे।

मैंने वीतराग के वचन में शंका की हो, जो धर्म वीतराग द्वारा कथित नहीं है, उसकी आकांक्षा की हो, धर्म के फल में संदेह किया हो, या साधु-साध्वी आदि महात्माओं के वस्त्र, पात्र, शरीर आदि को मलिन देखकर घृणा की हो, परपाखण्डी का चमत्कार देखकर उसकी प्रशंसा की हो तथा पर-पाखण्डी से परिचय किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ। मेरा वह सव पाप निष्फल हो।

गुरु-गुण-स्मरणसूत्र

पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह-बंभचेर-गुत्तिधरो।
चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अट्ठारस-गुणेहिं संजुत्तो॥
पंच महव्वय-जुत्तो, पंचविहायार-पालण-समत्थो।
पंच-समिओ-तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरू मज्झ॥

भावार्थ—पांच इन्द्रियों के वैषयिक चांचल्य को रोकने वाले, ब्रह्मचर्य की नवविध गुप्तियों को—नौ बाड़ों को धारण करने वाले, क्रोध आदि चार प्रकार के कषायों से मुक्त इस प्रकार अठारह गुणों से संयुक्त, अहिंसा आदि पांच महाव्रतों से युक्त, पांच आचारों को पालने में समर्थ, पांच समिति और तीन गुप्ति को धारण करने वाले, इस प्रकार उक्त छत्तीस गुणों वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं।

दोहा

अनन्त चौवीसी जिन नमूं, सिद्ध अनन्ते कोड़।
केवलज्ञानी गणधरा, वन्दूं वे कर जोड़॥ १॥

दोय कोडि केवलधरा, विहरमान जिन वीस।
सहस्र युगल कोडि नमूं, साधु नमूं निशदीश ॥ २ ॥
धनसाधु, धनसाध्वी, धन-धन है जिनधर्म।
ये समर्‌या पातक झरे, टूटे आठों कर्म ॥ ३ ॥
अरिहन्त सिद्ध समरूं सदा, आचारज उपाध्याय।
साधु सकल के चरण को, वन्दूं शीश नवाय ॥ ४ ॥
शासननायक सुमरिये, भगवन्त वीर जिणंद।
अलिय विघन दूरे हरे, आपे परमानन्द ॥ ५ ॥
अंगुष्ठे अमृत वसे, लब्धि तणा भण्डार।
श्री गुरु गौतम सुमरिये, वंछित फल दातार ॥ ६ ॥
गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किसके लागूं पाय।
वलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो वताय ॥ ७ ॥
लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे सो तारणहार।
जो तूं तिरियो चाह तो, निर्लोभी गुरु धार ॥ ८ ॥
साधु सती ने शूरमा, ज्ञानी ने गजदन्त।
इतना पीछा ना हटे, जो जुग जाय पडन्त ॥ ९ ॥
गुरु दीपक गुरु चांदणी, गुरु विन घोर अन्धार।
पलक न विसरूं तुम भणी, गुरु मुझ प्राण आधार ॥ १० ॥

क्षामणासूत्र

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे य।
जे मे केई कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥
सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ २ ॥
सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्मनिहियनियचित्तो।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ ३ ॥
(मरणसमाधि-प्रकीर्णक और संस्तारक-प्रकीर्णक)
रागेण व दोसेण व, अहवा अकयण्णुणा पडिनिवेसेणं।
जं मे किं चि वि भणिअं, तमहं तिविहेण खामेमि ॥ ४ ॥

भावार्थ—आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण, इनके ऊपर मैंने जो कुछ कषाय किये हों, उन सब से मैं मन, वचन और काया से क्षमा चाहता हूँ ॥ १ ॥

अञ्जलिवद्ध दोनों हाथ जोड़कर समस्त पूज्य मुनिगण से मैं अपराध की क्षमा चाहता हूँ और मैं भी उन्हें क्षमा करता हूँ ॥ २ ॥

धर्म में चित्त को स्थिर करके सम्पूर्ण जीवों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ और स्वयं भी उनके अपराध को क्षमा करता हूँ ॥ ३ ॥

राग-द्वेष, अकृतज्ञता अथवा आग्रह वश मैंने जो कुछ भी कहा हो, उसके लिए मैं मन, वचन, काया से सभी से क्षमा चाहता हूँ ॥ ४ ॥

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु[1], वेरं मज्झं न केणइ ॥
एवमहं आलोइय, निंदिय गरिहिय दुगंछियं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥

भावार्थ—मैंने किसी जीव का अपराध किया हो तो मैं उससे क्षमा चाहता हूँ। सभी प्राणी मुझे क्षमा करें। संसार के प्राणिमात्र से मेरी मित्रता है, मेरा किसी से वैर-विरोध नहीं है।

मैं अपने पापों की आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काय से प्रतिक्रमण कर, पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थंकर देवों को वन्दना करता हूँ।

विवेचन—मन भावनाओं का भण्डार है। इसमें असंख्य शुभाशुभ भावनाएँ विद्यमान रहती हैं और इन शुभाशुभ भावनाओं के फलस्वरूप हर क्षण अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं का आत्मा के साथ बन्ध होता रहता है। शुभ भावनाओं से शुभ कर्मों का और अशुभ भावनाओं से अशुभ कर्मों का। इन बन्धनों के कारण ही आत्मा अनादि काल से चौदह राजू परिमित लोक में, चौरासी लाख जीवयोनियों में परिभ्रमण करता हुआ पौद्‌गलिक अस्थायी सुख-दुःखों का भोग भी करता आ रहा है। सुख की अपेक्षा आत्मा ने दुःख एवं पीड़ाएँ बहुत सहन की हैं। कोटानुकोटि जन्मों के बाद आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, मानव जन्म, आदि दस बोलों की जीव को प्राप्ति हुई है और साथ ही वीतराग वाणी श्रवण करने का तथा संत-समागम का सुअवसर भी प्राप्त हुआ है। अब आवश्यकता है अटल आस्था के साथ कर्म और आत्मा अर्थात् जड़-चेतन के स्वरूप को समझकर आत्म-उत्थान के हेतुओं को जीवन में उतारने की।

आत्मकल्याण के कारणों में प्रथम हेतु क्षमा-धर्म ही है। शास्त्र का वचन है—

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तंजहा—१. खंती, २. मुत्ती, ३. अज्जवे, ४. मद्दवे, ५. लाघवे, ६. सच्चे, ७. संयमे, ८. तवे, ९. चियाए, १०. बंभचेरवासे। —समवायांगसूत्र

क्षमाश्रमण भगवान् महावीर ने दस प्रकार के यतिधर्मों में सर्वप्रथम क्षमा को ही बताया है। साधक जीवन में क्षमाधर्म की अनिवार्य आवश्यकता है। क्षमा के अभाव में व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सुख-शान्तिमय जीवन नहीं जी सकता है। वास्तव में 'क्षमा' मनुष्य का नैसर्गिक गुण है, इसे किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को छोड़ना नहीं चाहिये। क्षमा तथा प्रेम के प्रभाव से क्रूर हृदय भी बदले जा सकते हैं। कहा भी है—

"क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ?" —सुभाषितसंचय

अर्थात् क्षमा संसार में वशीकरण मंत्र है, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता? सबसे बड़ा तप क्षमा ही है। 'क्षान्तितुल्यं तपो नास्ति'—क्षमा के बराबर दूसरा तप नहीं है।

---

१. सव्व जीवेसु, इति जिनदास महत्तराः।

अपनी आत्मा के अभ्युदय का दृढ संकल्प रखने वाले साधक निश्चय ही मन को संयत बनाने में अर्थात् क्षमा करने में समर्थ होते हैं। भोगों के प्रलोभन उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते, लालसाएँ उन्हें भावित नहीं कर पातीं तथा भीषण विपत्तियां और संकट उन्हें व्याकुल नहीं कर सकते। संयत व्यक्ति के हृदय पर लोभ के आक्रमण-प्रहार बेअसर हो जाते हैं तथा क्रोध की अग्नि उसके क्षमा-सागर में आकर समाप्त हो जाती है। ऐसा पुरुष शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समन्वय करके जिन-प्ररूपित नियमों के अनुसार साधना-रत रहता है। साधना-निरत व्यक्ति से कभी छद्मस्थ अवस्था के कारण जाने-अनजाने यदि भूल हो जाए तो वह तत्काल अपने अपराधों की सरल हृदय से क्षमायाचना कर लेता है।

प्रतिक्रमण की परिसमाप्ति पर प्रस्तुत क्षमापना सूत्र का उच्चारण करते समय मनोयोग, वचनयोग और काययोग—इन तीनों का समन्वय होना आवश्यक है। जीवन को निष्कलुष और निर्मल बनाने के लिए विगत भूलों पर पश्चात्ताप करना आवश्यक है, किन्तु पश्चात्ताप यदि कोरा पश्चात्ताप ही रहे तो उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। पश्चात्ताप होने पर भूल को सुधारने का मन में ध्रुव संकल्प भी होना चाहिये और जो भूलें पहले हो चुकी हैं, उन्हें फिर न दोहराने का प्रयत्न करना चाहिये। तभी साधक का सच्चा क्षमापनासूत्र जीवन-उत्थान में उपयोगी बन सकता है। इस क्षमायाचना से जीवन के अपराधी संस्कार समाप्त हो जाते हैं और जीवन में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है तथा हृदय में नवीन प्रकाश की किरणें स्फुटित हो जाती हैं। जैसे करोड़ों वर्षों से अन्धकाराच्छादित तामस गुफा में चक्रवर्ती का मणिरत्न (छह खण्ड की विजय करते समय) क्षण भर में आलोक फैला देता है, इसी प्रकार क्षमा गुण से संयुक्त संयत के जीवन में आत्मज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित हो जाता है।

चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ—

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय, चार लाख नारकी, चार लाख देवता, चार लाख तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य, ऐसे चार गति में चौरासी लाख जीवयोनि के सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त किसी जीव का हालते-चालते, उठते-बैठते, जानते-अजानते हनन किया हो, कराया हो, हनता प्रति अनुमोदन किया हो, छेदा-भेदा हो, किलामणा उपजाई हो, मन, वचन, काया करके अठारह लाख चौबीस हजार एक सौ बीस (१८,२४,१२०) [1] प्रकारे तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

विवेचन—चार गति में जितने भी संसारी जीव हैं, उनकी चौरासी लाख योनियां हैं। योनि का अर्थ है—जीवों के उत्पन्न होने का स्थान। समस्त जीवों के ८४ लाख प्रकार के उत्पत्ति-स्थान हैं।

१. जीव तत्त्व के ५६३ भेदों को अभिहयादि दशों के साथ गुणाकार करने से ५६३० भेद होते हैं। फिर इनको राग और द्वेष के साथ द्विगुण करने से ११२६० भेद बनते हैं। फिर इन्ही को मन, वचन, काया के साथ त्रिगुणा करने से ३३७८० भेद हो जाते हैं। फिर तीन करणों के साथ गुणाकार करने से १०१३४० भेद बन जाते हैं, इनको पुनः तीन काल के साथ गुणाकार करने से ३०४०२० भेद होते हैं। फिर अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, गुरु और आत्मा, इस प्रकार छह से गुणा करने पर १८२४१२० भेद बनते हैं। इस प्रकार से मैं मिच्छा मि दुक्कडं देता हूँ और फिर पापकर्म न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

यद्यपि स्थान तो इससे भी अधिक हैं, परन्तु वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान के रूप में जितने भी स्थान परस्पर समान होते हैं, उन सबका मिलकर एक ही स्थान माना जाता है।

पृथ्वीकायिक जीवों के मूल भेद ३५० हैं। पाँच वर्ण से उक्त भेदों को गुणा करने से १७५० भेद होते हैं। पुनः दो गन्ध से गुणा करने पर ३५००, पुनः पांच रस से गुणा करने पर १७५००, पुनः आठ स्पर्श से गुणा करने पर १,४०,०००, पुनः पांच संस्थान से गुणा करने पर कुल सात लाख भेद होते हैं।

पृथ्वीकाय के समान ही जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय के भी प्रत्येक के मूल भेद ३५० हैं। उनको पांच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की सात लाख योनियां हो जाती हैं। प्रत्येक वनस्पति के मूल भेद ५०० हैं। उनको पांच वर्ण आदि से गुणा करने से कुल दस लाख योनियां हो जाती हैं। कन्दमूल की जाति के मूल भेद ७०० हैं, अतः उनको पांच वर्ण आदि से गुणा करने पर कुल १४,००,००० योनियां होती हैं।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रय के प्रत्येक के मूल भेद १००-१०० हैं। उनको पांच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल चार-चार लाख योनियां होती हैं। मनुष्य जाति के मूल भेद ७०० हैं, अतः पाँच वर्ण आदि से गुणा करने से मनुष्य की कुल १४,००,००० योनियां हो जाती हैं।

कुल कोडी खमाने का पाठ—

पृथ्वीकाय के बारह लाख कुलकोडी, अप्काय के सात लाख कुलकोडी, तेजस्काय के तीन लाख कुलकोडी, वायुकाय के सात लाख कुलकोडी, वनस्पतिकाय के अट्ठाईस लाख कुलकोडी, द्वीन्द्रिय के सात लाख कुलकोडी, त्रीन्द्रिय के आठ लाख कुलकोडी, चतुरिन्द्रिय के नव लाख कुलकोडी, जलचर के साढ़े बारह लाख कुलकोडी, स्थलचर के दस लाख कुलकोडी, खेचर के बारह लाख कुलकोडी, उर-परिसर्प के दस लाख कुलकोडी, भुजपरिसर्प के नव लाख कुलकोडी, नरक के पच्चीस लाख कुलकोडी, देवता के छब्बीस लाख कुलकोडी, मनुष्य के बारह लाख कुलकोडी, यों एक करोड़ साढ़े सत्तानवै लाख कुलकोडी की विराधना की हो तो देवसी सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

प्रणिपात-सूत्र

नमोत्थुणं
अरिहंताणं, भगवंताणं ॥ १ ॥
आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं ॥ २ ॥
पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं,
पुरिसवरपुंडरीयाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं ॥ ३ ॥
लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं,
लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं ॥ ४ ॥
अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं,
सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं ॥ ५ ॥

धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं,
धम्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं ॥ ६ ॥
दीवो ताणं-सरण-गई-पइट्ठाणं,
अप्पडिहय-वरनाण-दंसणधराणं, वियट्टछउमाणं ॥ ७ ॥
जिणाणं, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं,
बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं ॥ ८ ॥
सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीणं,
सिव-मयलमरुय-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति-सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं,
नमो जिणाणं, जियभयाणं ॥

भावार्थ—श्री अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार हो। (अरिहंत भगवान् कैसे हैं?) धर्म की आदि करने वाले हैं। धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, (परोपदेश विना) स्वयं ही प्रबुद्ध हुए हैं।

पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, पुरुषों में सिंह (के समान पराक्रमी) हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक—श्वेत कमल के समान हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती हैं। लोक में उत्तम हैं लोक के नाथ हैं, लोक के हितकर्ता हैं, लोक में दीपक हैं, लोक में उद्योत करने वाले हैं।

अभय देने वाले हैं, ज्ञान रूपी नेत्र देने वाले हैं, धर्ममार्ग को देने वाले हैं, शरण देने वाले हैं, संयम रूप जीवन के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म के सारथी—संचालक हैं।

चार गति का अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती हैं, अप्रतिहत एवं श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले हैं, ज्ञानावरण आदि घातिकर्मों से अथवा प्रमाद से रहित हैं।

स्वयं राग-द्वेष को जीतने वाले हैं, दूसरों को जिताने वाले हैं, स्वयं संसार-सागर से तर गए हैं, दूसरों को तारने वाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को मुक्त कराने वाले हैं।

सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं तथा शिव—कल्याणरूप, अचल—स्थिर, अरुज—रोग रहित, अनन्त—अन्त रहित, अक्षय—क्षय रहित, अव्याबाध—बाधा-पीड़ा रहित, अपुनरावृत्ति—पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म-मरण से रहित, सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय को जीतने वाले हैं, राग-द्वेष को जीतने वाले हैं—ऐसे जिन भगवन्तों को मेरा नमस्कार हो।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अरिहन्त और सिद्ध भगवान् को नमस्कार किया गया है। अनादि काल से अब तक अनन्त अरिहन्त और सिद्ध हो चुके हैं, इस कारण तथा उनकी महत्ता—उत्कृष्टता प्रकट करने के लिए मूल पाठ में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। रागादि आन्तरिक रिपुओं को विनष्ट करने वाले अरिहन्त कहलाते हैं और आत्मा के साथ बंधे आठ कर्मों को समूल भस्म कर देने वाले लोकोत्तर महापुरुष सिद्ध कहे जाते हैं। उन जैसा पद प्राप्त करने एवं जिस प्रशस्त पथ पर प्रयाण करके उन्होंने परमोत्तम पद प्राप्त किया है, उसी पथ पर चलकर उस पद को प्राप्त करने के लिए अपने अन्तःकरण में संकल्प एवं सामर्थ्य जागृत करने के लिए उन्हें नमस्कार किया जाता है।

मूल पाठ में कतिपय विशेषण ऐसे भी हैं जिनका रहस्य हमें विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये। भगवान् को 'अभयदयाणं' आदि कहा गया है, अर्थात् भगवान् अभयदाता हैं, चक्षुदाता हैं, मार्ग के दाता हैं, बोधि के दाता हैं, इत्यादि। किन्तु जैनदर्शन के अनुसार, भगवान् के स्वयं के कथनानुसार कोई किसी को शुभ या अशुभ फल प्रदान नहीं कर सकता। आगम में कहा है—'अत्ता कत्ता विकत्ता य।' अर्थात् पुरुष स्वयं अपने कर्मों का कर्ता-हर्ता और सुख-दुःख का जनक है। आचार्य अमितगति ने इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अर्थात् अतीत काल में आत्मा ने स्वयं जो शुभ या अशुभ कर्म किए हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल वह प्राप्त करता है। यदि दूसरे के द्वारा दिया फल मिलता हो तो स्पष्ट है कि अपने किए कर्म निष्फल हो जायें !

आगे वही कहते हैं—

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसो परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥

अर्थात् अपने उपार्जित कर्मों के सिवाय कोई किसी को कुछ भी नहीं देता। ऐसा विचार करके अनन्यमनस्क बनो—अपनी ओर दृष्टि लगाओ। दूसरा कोई कुछ देता है, इस बुद्धि का परित्याग कर दो।

जैनदर्शन का यह सच्चा आत्मवाद है और यह आत्मा के अनन्त, असीम पुरुषार्थ को जगाने वाला है। यह किसी के समक्ष दैन्य दिखला कर भिखारी न बनने का महामूल्य मंत्र है। यही पारमार्थिक दृष्टि है, तो फिर भगवान् को अभय आदि का दाता क्यों कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य के कारण दो प्रकार के होते हैं—उपादान और निमित्त। कार्य की निष्पत्ति दोनों प्रकार के कारणों से होती है, एक से नहीं। घट बनाने के लिए जैसे उपादान मृत्तिका आवश्यक है, उसी प्रकार कुम्भकार, चाक आदि निमित्तकारण भी अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। इस नियम के अनुसार अपने उत्कर्ष का—मोक्ष का उपादान कारण स्वयं आत्मा है और निमित्तकारण अरिहन्त भगवान् एवं तत्प्ररूपित धर्म संघ आदि हैं। व्यवहारनय से निमित्त-कारण को भी कर्त्ता कहा जाता है, जैसे कुंभार को घट का कर्त्ता कहा जाता है। अतः प्रस्तुत पाठ में भी व्यवहारनय की दृष्टि की प्रधानता से अरिहन्त भगवान् को 'दाता' कहा है, क्योंकि अरिहन्त भगवान् उस पथ के उपदेष्टा हैं, जिसका अनुसरण करने से जीव सदा काल के लिए अभय—भयमुक्त बनता है। 'अभय' शब्द का अर्थ 'संयम' भी है। भगवान् संयमोपदेष्टा होने से भी अभयदाता हैं। इसी प्रकार चक्षुदाता आदि विशेषणों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ—भगवंताणं—भगवन्तों को। 'भग' शब्द के छह अर्थ हैं—१. ऐश्वर्य—

वैभव, २. रूप, ३. यशःकीर्ति, ४. श्री—शोभा, ५. धर्म और ६. प्रयत्न-पुरुषार्थ ।[1] ये छह विशेषताएँ जिनमें समग्र सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान हों, वे भगवान् कहलाते हैं ।

आइगर—आदिकर—आदि करने वाले । धर्म यद्यपि वस्तु का स्वभाव होने के कारण अनादि-अनन्त है, तथापि अहिंसा, तप, संयम आदि रूप व्यवहार धर्म की मर्यादाओं में विभिन्न युगों में जो विकृति आ जाती है, उसे दूर करके धर्म के वास्तविक स्वरूप को, उसकी मर्यादाओं को काल के अनुरूप प्रस्थापित करने के कारण भगवान् आदिकर कहलाते हैं ।

पुरिससीह—पुरुषसिंह—वन्य पशुओं में सिंह सबसे अधिक पराक्रमशाली गिना जाता है और निर्भय होकर विचरता है । इसी प्रकार भगवान् अनन्त पराक्रमी और निर्भय होने के कारण पुरुषसिंह—पुरुषों में सिंह के समान हैं ।

पुरिसवरगंधहत्थी—पुरुषवरगन्धहस्ती—गन्धहस्ती वह कहलाता है जिसके गण्डस्थल से सुगन्धित मद झरता रहता है । उस मद की सुगन्ध की अतिशय उग्रता के कारण अन्य हस्ती घबरा जाते हैं—दूर भाग जाते हैं । गंधहस्ती मांगलिक भी माना जाता है । भगवान् के सन्मुख जाते ही अन्य वादी निर्मद हो जाते हैं—टिक नहीं सकते हैं और भगवान् परम मांगलिक भी हैं, अतएव पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान है ।

लोगनाह—लोकनाथ—योग अर्थात् अप्राप्त पदार्थ को प्राप्त कराने वाला तथा क्षेम अर्थात् प्राप्त पदार्थ की रक्षा करने वाला 'नाथ' कहलाता है—'योगक्षेमकरो नाथः ।' भगवान् अप्राप्त मंगलमय धर्म की प्राप्ति कराने वाले और प्राप्त धर्म की विविध विधियों के उपदेश द्वारा रक्षा करने वाले हैं । भगवान् विश्व के समस्त प्राणियों को समभाव से धर्म का उपदेश करते हैं, अतएव समग्र लोक के नाथ हैं ।

लोगपईव—लोकप्रदीप—लोक में अथवा लोक के लिए उत्कृष्ट दीपक । लौकिक दीपक परिमित क्षेत्र में बाह्य अन्धकार को विनष्ट करके प्रकाश करता है, परन्तु भगवान् प्र-दीप-प्रकृष्ट दीप हैं, जो अनादिकाल से आत्मा में रहे हुए मिथ्यात्वजन्य अज्ञानान्धकार को सदा के लिए दूर करते हैं । दीप-प्रकाश में अत्यल्प और स्थूल दृष्टिगोचर हो सकने वाले पदार्थ ही भासित होते हैं, किन्तु भगवान् के केवलज्ञान रूपी लोकोत्तर प्रदीप में त्रिकाल संबंधी, सूक्ष्म-स्थूल, इन्द्रियगम्य, अतीन्द्रिय, सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं । द्रव्य-दीप में स्थूल पदार्थ भी अपने सम्पूर्ण रूप में दिखाई नहीं देते, केवल उनका रूप और आकार ही दृष्टिगोचर होता है, भगवान् के ज्ञानप्रदीप में प्रत्येक पदार्थ अपने अनन्त-अनन्त गुण-पर्यायों समेत प्रतिबिम्बित होता है । द्रव्य-दीप तैलक्षय, पवन के वेग आदि कारणों से बुझ जाता है, परन्तु भगवान् का ज्ञानप्रदीप एक बार प्रज्वलित होकर सदैव प्रज्वलित ही रहता है । अतएव वह दीप नहीं प्रदीप—लोकोत्तर दीपक है । भगवान् का ज्ञान भगवान् से अभिन्न है और वह समग्र लोकों के लिए प्रकाश-प्रदाता है, अतएव भगवान् लोकप्रदीप हैं ।

अपुणराविित्ति—अपुनरावृत्ति—सिद्धिगति-स्थान के लिए अनेक विशेषणों का यहाँ प्रयोग किया गया है । वे विशेषण सुगम हैं । मोक्ष शिव अर्थात् सब प्रकार के उपद्रवों से रहित है, अचल—

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना । —दशवैकालिकचूर्णि—जिनदास

स्थिर है, अरुज—सभी प्रकार के बाह्याभ्यन्तर रोगों से रहित है, अनन्त है—उसका कदापि अन्त नहीं होता, अक्षत है, अर्थात् उसमें कभी कोई क्षति—न्यूनता नहीं आती, अव्याबाध है—समस्त बाधाओं से विवर्जित है और अपुनरावृत्ति है, अर्थात् एक बार सिद्धि प्राप्त हो जाने पर फिर कभी वहाँ से वापिस नहीं लौटना पड़ता।

यहाँ विचारणीय है कि अनन्त और अक्षत (अक्षय) विशेषणों का प्रयोग करने के पश्चात् 'अपुनरावृत्ति' विशेषण के प्रयोग की क्यों आवश्यकता हुई? समाधान यह है कि कतिपय दार्शनिकों की ऐसी मान्यता है कि मुक्तात्मा जब अपने तीर्थ की अवहेलना होते देखते हैं तो उसके रक्षण के लिए मोक्ष को छोड़कर पुनः संसार में आ जाते हैं। इस मान्यता को भ्रान्त बतलाने के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। जैसे बीज के दग्ध हो जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भव-अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती कर्म ही नवीन कर्म को उत्पन्न करता है, एक बार कर्म का समूल नाश हो जाने पर नवीन कर्मों का उद्भव संभव नहीं है और कर्म के अभाव में पुनः संसार में जन्म होना संभव नहीं। वस्तुतः मोक्ष-पद सादि और अनन्त है। इस आशय को व्यक्त करने के लिए 'अपुनरावृत्ति' पद का प्रयोग किया गया है।

'नमोत्थुणं' पाठ दो बार पढ़ा जाता है—अरिहन्त भगवन्तों को लक्ष्य करके और सिद्ध भगवन्तों को लक्ष्य करके। जब अरिहन्तों को लक्ष्य करके पढ़ा जाता है तो **'ठाणं संपाविउकामाणं'** ऐसा बोला जाता है और जब सिद्ध भगवन्तों की स्तुति की जाती है तो **'ठाणं संपत्ताणं'** ऐसा पाठ बोला जाता है। दोनों पाठों के अर्थ में अन्तर इस प्रकार है—'ठाणं संपाविउकामाणं' अर्थात् मुक्ति पद को प्राप्त करने का लक्ष्य रखने वाले—ध्येय वाले। 'ठाणं संपत्ताणं' का अर्थ है—मुक्ति पद को जो प्राप्त कर चुके हैं। □

व्रतों की उपयोगिता

१. जीवन को सुघड़ बनाने वाली और आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाएं नियम कहलाती हैं अथवा जो मर्यादाएं सार्वभौम हैं, प्राणिमात्र के लिए हितावह हैं और जिनमें स्वपर का हितसाधन होता है, उन्हें नियम या व्रत कहा जा सकता है।

२. अपने जीवन के अनुभव में आने वाले दोषों को त्यागने का दृढ़ संकल्प उत्पन्न होता है, तभी व्रत की उत्पत्ति होती है।

३. सरिता के सतत गतिशील प्रवाह को नियंत्रित रखने के लिए दो किनारे आवश्यक होते हैं, इसी प्रकार जीवन को नियंत्रित, मर्यादित और गतिशील बनाये रखने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। जैसे किनारों के अभाव में प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, इसी प्रकार व्रतविहीन मनुष्य की जीवनशक्ति भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवनशक्ति को केन्द्रित और योग्य दिशा में उसका उपयोग करने के लिए व्रतों की अत्यन्त आवश्यकता है।

४. आकाश में ऊंचा उड़ने वाला पतंग सोचता है मुझे डोर के बन्धन की क्या आवश्यकता है। यह डोर न हो तो मैं स्वच्छन्द भाव से गगन-विहार कर सकता हूं। किन्तु हम जानते हैं कि डोर टूट जाने पर पतंग की क्या दशा होती है। डोर टूटते ही पतंग के उन्मुक्त व्योमविहार का स्वप्न भंग हो जाता है और उसे धूल में मिलना पड़ता है। इसी प्रकार जीवन रूपी पतंग को उन्नत रखने के लिए व्रतों की डोर साथ बंधे रहने की आवश्यकता है।

चार प्रकार से व्रतों में दोष लगता है—

१. अतिक्रम—स्वीकृत व्रत को भंग करने की इच्छा होना।
२. व्यतिक्रम—स्वीकृत व्रत को भंग करने हेतु तत्पर होना।
३. अतिचार—स्वीकृत व्रत को एकदेश भंग करना।
४. अनाचार—स्वीकृत व्रत को सर्वथा भंग करना।

इन दोषों से व्रतों की रक्षा करना आवश्यक है और प्रमादवश कदाचित् दोष लग जाए तो उसका प्रतिक्रमण करके शुद्धि कर लेना चाहिए। इसी दृष्टि से यहाँ अतिचारों का पाठ दिया गया है। स्मरण रहे कि यह प्रतिक्रमण-पाठ श्रावक-श्राविकाओं के व्रतों से संबंधित है। □

बारह व्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण

१. अहिंसाणुव्रत के अतिचार

पहला अणुव्रत—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, त्रस जीव वेइन्दिय, तेइन्दिय, चउरिन्दिय, पंचिंदिय, जान के पहचान के संकल्प करके उसमें स्व सम्बन्धी शरीर के भीतर में पीडाकारी, सापराधी को छोड़कर निरपराधी को आकुट्टी (हनने) की बुद्धि से हनने का पच्चक्खाण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं—न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा। ऐसे पहले स्थूल प्राणातिपात वेरमण व्रत के पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउं—बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणविच्छेए, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—श्रावक के व्रत बारह हैं, उनमें पांच अणुव्रत मूल और सात उत्तर गुण कहलाते हैं। गृहीत व्रतों का देशतः उल्लंघन अतिचार कहलाता है। प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार हैं। उनमें यहाँ अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचारों की शुद्धि का विधान किया गया है। मैं स्व, सम्बन्धी (अपने और अपने संबंधी जनों) के शरीर में पीडाकारी अपराधी जीवों को छोड़कर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रस जीवों की हिंसा संकल्प करके मन, वचन और काया से न करूंगा और न कराऊंगा। मैंने किसी जीव को यदि बन्धन से बांधा हो, चाबुक, लाठी आदि से मारा हो, पीटा हो, किसी जीव के चर्म का छेदन किया हो, अधिक भार लादा हो तथा अन्न-पानी का विच्छेद किया हो तो वे सब पाप निष्फल हों।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ श्रावक अहिंसाणुव्रत में निरपराध त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का ही त्याग करता है। वह स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी नहीं होता। किन्तु उनकी भी निरर्थक हिंसा का त्याग करता है। त्रस जीवों में भी अपराधी की हिंसा का नहीं, केवल निरपराध जीवों की हिंसा त्यागता है और निरपराधों की भी संकल्पी हिंसा का—'मैं इसे मार डालूं' इस प्रकार की बुद्धि से घात करने का त्याग करता है। कृषि, गृह-निर्माण, व्यवसाय आदि में निरपराध त्रस जीवों का भी हनन होता है, तथापि वह आरंभी हिंसा है, संकल्पी नहीं। अतएव गृहस्थ श्रावक उसका त्यागी नहीं। इस कारण उसका पहला व्रत स्थूल प्राणातिपातविरमण कहलाता है। यह दो करण और तीन योग से स्वीकार किया जाता है।

२. मृषावादविरमणव्रत के अतिचार

दूजा अणुव्रत—थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, कन्नालीए, गोवालीए, भोमालीए, णासावहारो (थापणमोसो), कूडसक्खिज्जे (कूड़ी साख) इत्यादिक मोटा झूठ बोलने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए दुविहंतिविहेणं—न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं दूजा स्थूल मृषावाद वेरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउं—सहसब्भक्खाणे, रहस्सब्भक्खाणे, सदारमन्तभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मैं जीवनपर्यन्त मन, वचन, काया से स्थूल झूठ नहीं बोलूंगा और न बोलाऊंगा। कन्या-वर के संबंध में, गाय, भैंस आदि पशुओं के विषय में तथा भूमि के विषय में कभी असत्य नहीं बोलूंगा। किसी की रखी हुई धरोहर (सौंपी हुई रकम आदि) के विषय में असत्यभाषण नहीं करूंगा और न धरोहर को हीनाधिक बताऊंगा तथा झूठी साक्षी नहीं दूंगा। यदि मैंने किसी पर झूठा कलंक लगाया हो, एकान्त में मंत्रणा करते हुए व्यक्तियों पर झूठा आरोप लगाया हो, अपनी स्त्री के गुप्त विचार प्रकाशित किए हों, मिथ्या उपदेश दिया हो, झूठा लेख (स्टाम्प, बही-खाता आदि) लिखा हो तो मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

३. अदत्तादानविरमणाणुव्रत के अतिचार

तीजा अणुव्रत—थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं खात खनकर, गांठ खोलकर, ताले पर कूंची लगाकर, मार्ग में चलते को लूटकर, पड़ी हुई धणियाती मोटी वस्तु जानकर लेना, इत्यादि मोटा अदत्तादान का पच्चक्खाण, सगे सम्बन्धी व्यापार सम्बन्धी तथा पड़ी निर्भ्रमी वस्तु के उपरान्त अदत्तादान का पच्चक्खाण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं—न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं तीजा स्थूल अदत्तादान वेरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउं—तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मैं किसी के मकान में खात लगाकर अर्थात् भींत (खोदकर) फोड़कर, गांठ खोलकर, ताले पर कूंची लगाकर अथवा ताला तोड़कर किसी की वस्तु को नहीं लूंगा, मार्ग में चलते हुए को नहीं लूटूंगा, किसी की मार्ग में पड़ी हुई मोटी वस्तु को नहीं लूंगा, इत्यादि रूप से सगे सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी तथा पड़ी हुई शंका रहित वस्तु के उपरान्त स्थूल चोरी को मन-वचन-काया से न करूंगा और न कराऊंगा। यदि मैंने चोरी की वस्तु ली हो, चोर को सहायता दी हो, या चोरी करने का उपाय बतलाया हो, लड़ाई के समय विरुद्ध राज्य में आया-गया होऊं, झूठा तोल व माप रखा हो, अथवा उत्तम वस्तु दिखाकर खराब वस्तु दी हो (वस्तु में मिलावट की हो), तो मैं इन कुकृत्यों (बुरे कामों) की आलोचना करता हूँ। वे मेरे सब पाप निष्फल हों।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

चौथा अणुव्रत—थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं सदारसंतोसिए[1] अवसेस मेहुणविहिं पच्चक्खामि जावज्जीवाए देव देवी सम्बन्धी दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा तथा मनुष्य तिर्यञ्च सम्बन्धी एगविहं एगविहेणं न करेमि कायसा एवं चौथा स्थूल स्वदारसंतोष, परदारविवर्जन रूप मैथुनवेरमणव्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउं—इत्तरिय परिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनंगक्रीडा, परविवाहकरणे, कामभोग-तिव्वाभिलासे, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

---

१. 'स्वदारसंतोष' ऐसा पुरुष को बोलना चाहिये और स्त्री को 'स्वपतिसंतोष' ऐसा बोलना चाहिये।

भावार्थ—चौथे अणुव्रत में स्थूल मैथुन से विरमण किया जाता है। मैं जीवनपर्यन्त अपनी विवाहिता स्त्री में ही संतोष रखकर शेष सब प्रकार के मैथुन-सेवन का त्याग करता हूँ अर्थात् देव-देवी सम्बन्धी मैथुन का सेवन मन, वचन, काया से न करूंगा और न कराऊँगा। मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुनसेवन काया से न करूंगा। यदि मैंने इत्वरिका परिगृहीता अथवा अपरिगृहीता से गमन करने के लिये आलाप-संलापादि किया हो, प्रकृति के विरुद्ध अंगों से कामक्रीडा करने की चेष्टा की हो, दूसरे के विवाह करने का उद्यम किया हो, कामभोग की तीव्र अभिलाषा की हो तो मैं इन दुष्कृत्यों की आलोचना करता हूँ। वे मेरे सब पाप निष्फल हों।

५. परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार

पांचवां अणुव्रत— थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं, खेत्तवत्थु का यथापरिमाण, हिरण्ण-सुवण्ण का यथापरिमाण, धन-धान्य का यथापरिमाण, दुपय-चउप्पय का यथापरिमाण, कुविय धातु का यथापरिमाण, जो परिमाण किया है उसके उपरान्त अपना करके परिग्रह रखने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा, वयसा, कायसा एवं पांचवां स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोऊं—खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे, धणधण्णप्पमाणाइक्कमे, दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे, कुवियप्पमाणाइक्कमे तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—खेत—खुली जगह, वास्तु—महल-मकान आदि, सोना-चांदी, दास-दासी, गाय, हाथी, घोड़ा, चौपाये आदि, धन-धान्य तथा सोना-चांदी के सिवाय कांसा, पीतल, तांबा, लोहा आदि धातु तथा इनमें बने हुए वर्तन आदि और शैय्या, आसन, वस्त्र आदि घर सम्बन्धी वस्तुओं का मैंने जो परिमाण किया है, इसके उपरान्त सम्पूर्ण परिग्रह का मन, वचन, काया से जवन पर्यन्त त्याग करता हूँ। यदि मैंने खेत, वास्तु—महल—मकान के परिमाण का उल्लंघन किया हो, सोना, चांदी के परिमाण का उल्लंघन किया हो, धन, धान्य के परिमाण का उल्लंघन किया हो, दास, दासी आदि द्विपद और हाथी, घोड़ा आदि चतुष्पद की संख्या के परिमाण का उल्लंघन किया हो, (इनके अतिरिक्त) दूसरे द्रव्यों की मर्यादा का उल्लंघन किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

६. दिग्व्रत के अतिचार

छठा दिशिव्रत—उड्ढदिसि का यथापरिमाण, अहोदिसि का यथापरिमाण, तिरियदिसि का यथापरिमाण किया हो, उसके उपरान्त स्वेच्छा से काया से आगे जाकर पांच आश्रव सेवन का पच्चक्खाण जावज्जीवाए छठे एगविहं तिविहेणं—न करेमि मणसा, वयसा, कायसा एवं छठे दिशिव्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोऊं—उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे, अहोदिसिप्पमाणइक्कमे, तिरियदिसिप्पमाणाइक्कमे, खित्तवुड्ढी, सइअन्तरद्धा, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—जो मैंने ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक्दिशा का परिमाण किया है, उसके आगे गमनागमन आदि क्रियाओं को मन, वचन, काया से न करूंगा। यदि मैंने ऊर्ध्वदिशा,

अधोदिशा और तिर्यक्दिशा का जो परिमाण किया है उसका उल्लंघन किया हो, क्षेत्र को बढ़ाया हो, क्षेत्रपरिमाण की सीमा में संदेह होने पर आगे चला होऊं तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ। मेरे वे सब पाप मिथ्या हों।

ऊंची, नीची, तिरछी दिशाओं के उल्लंघन को यहाँ अतिचार कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मर्यादा की हुई भूमि से बाहर जाने की इच्छा कर रहा है लेकिन बाहर गया नहीं है तब तक अतिचार है, बाहर चले जाने पर अनाचार है।

७. उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत के अतिचार

सातवां व्रत—उवभोग-परिभोगविहिं पच्चक्खायमाणे—१. उल्लणियाविहि, २. दंतणविहि, ३. फलविहि, ४. अब्भंगणविहि, ५. उवट्टणविहि, ६. मज्जणविहि, ७. वत्थविहि, ८. विलेवणविहि, ९. पुप्फविहि, १०. आभरणविहि, ११. धूवविहि, १२. पेज्जविहि, १३. भक्खणविहि, १४. ओदणविहि, १५. सूपविहि, १६. विगयविहि, १७. सागविहि, १८. महुरविहि, १९. जोमणविहि, २०. पाणीअविहि, २१. मुखवासविहि, २२. वाहणविहि, २३. उवाहणविहि, २४. सयणविहि, २५. सचित्तविहि, २६. दव्वविहि, इत्यादि का यथापरिमाण किया है, इसके उपरान्त उवभोग-परिभोग वस्तु को भोगनिमित्त से भोगने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए, एगविहं तिविहेणं न करेमि मनसा, वयसा, कायसा एवं सातवां उवभोग-परिभोग दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—भोयणाओ य, कम्मओ य। भोयणाओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउं—सचित्ताहारे, सचित्तपडिवद्धाहारे, अप्पउलिओसहिभक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया, तुच्छोसहिभक्खणया। कम्मओ य णं समणोवासएण पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं, तं जहा ते आलोउं—इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे, लक्खवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे, निल्लंछण-कम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईजणपोसणया, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मैंने शरीर पोंछने के अंगोछे आदि वस्त्र का, दातौन करने का, आंवला आदि फल से बाल धोने का, तेल आदि की मालिश करने का, उबटन करने का, स्नान करने के जल का, वस्त्र पहनने का, चन्दनादि का लेपन करने का, पुष्प सूंघने का, आभूषण पहनने का, धूप जलाने का, दूध आदि पीने का, चावल-गेहूं आदि का, मूंग आदि की दाल का, विगय (दूध, दही, घी, गुड़ आदि) का, शाक-भाजी का, मधुर रस का, जीमने का, पीने के पानी का, इलायची-लौंग इत्यादि मुख को सुगन्धित करने वाली वस्तुओं का, घोड़ा, हाथी, रथ आदि सवारी का, जूते आदि पहनने का, शय्या-पलंग आदि का, सचित्त वस्तु के सेवन का तथा इनसे बचे हुए बाकी के सभी पदार्थों का जो परिमाण किया है, उसके सिवाय उपभोग तथा परिभोग में आने वाली सब वस्तुओं का त्याग करता हूँ।

उपभोग-परिभोग दो प्रकार का है—भोजन (भोग्य पदार्थ) सम्बन्धी और कर्म (जिन व्यापारों से भोग्य पदार्थ की प्राप्ति होती है उन वाणिज्य) सम्बन्धी। भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग के पांच और कर्म सम्बन्धी उपभोग-परिभोग के पन्द्रह, इस तरह इस व्रत के कुल बीस अतिचार

होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं, उनकी आलोचना करता हूँ। यदि मैंने १. मर्यादा से अधिक सचित्त वस्तु का आहार किया हो, २. सचित्त वृक्षादि के साथ लगे हुए गोंद आदि पदार्थों का आहार किया हो, ३. अग्नि से विना पकी हुई वस्तु का भोजन किया हो, ४. अधपकी वस्तु का भोजन किया हो, ५. तुच्छ औषधि का भक्षण किया हो तथा पन्द्रह कर्मादान का सेवन किया हो तो मैं उनकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा सब पाप निष्फल हो।

एक बार उपयोग में आने वाली वस्तु आहारादि की गणना उपभोग में और बार-बार काम में आने वाली वस्त्र आदि वस्तु परिभोग में गिनी जाती है। जिनसे तीव्रतर कर्मों का आदान—ग्रहण-बन्धन होता है, वे व्यवसाय या धन्धे कर्मादान हैं। उनकी संख्या पन्द्रह हैं और अर्थ इस प्रकार है—

१. **इंगाल-कर्म**—लकड़ियों के कोयले बनाने का, भड़भूंजे का, कुंभार का, लोहार का, सुनार का, ठठेरे-कसेरे का और ईंट पकाने का धन्धा करना 'अंगार-कर्म' कहलाता है।

२. **वन-कर्म**—वनस्पतियों के छिन्न या अच्छिन्न पत्तों, फूलों या फलों को वेचना तथा अनाज को दलने या पीसने का धन्धा करना[1] 'वन-जीविका' है।

३. **शकट-कर्म**—छकड़ा, गाड़ी आदि या उनके पहिया आदि अंगों को बनाने, बनवाने, चलाने तथा वेचने का धन्धा करना 'शकट-जीविका' है।

४. **भाटक-कर्म**—गाड़ी, बैल, भैंसा, ऊंट, गधा, खच्चर आदि पर भार लादने की अर्थात् इनसे भाड़ा-किराया कमाकर आजीविका चलाना 'भाटक-जीविका' है।

५. **स्फोट-कर्म**—तालाब, कूप, बावड़ी आदि खुदवाने और पत्थर फोड़ने-गढ़ने आदि पृथ्वीकाय की प्रचुर हिंसा रूप कर्मों से आजीविका चलाना[2] 'स्फोट-जीविका' है।

६. **दन्त-वाणिज्य**—हाथी के दांत, चमरी गाय आदि के बाल, उल्लू आदि के नाखून, शंख आदि की अस्थि, शेर-चीता आदि के चर्म और हंस आदि के रोम और अन्य त्रस-जीवों के अंगों को उनके उत्पत्ति स्थान में जाकर लेना या पेशगी द्रव्य देकर खरीदना 'दन्त-वाणिज्य' कहलाता है।

७. **लाक्षा-वाणिज्य**—लाख, मेनसिल, नील, धातकी के फूल, छाल आदि, टंकण-खार आदि पाप के कारण हैं, अतः उनका व्यापार भी पाप का कारण है। यह 'लाक्षा-वाणिज्य' कर्मादान कहलाता है।

८-९. **रस-केश-वाणिज्य**—मक्खन, चर्बी, मधु और मद्य आदि वेचना 'रस-वाणिज्य' कहलाता है और द्विपद एवं चतुष्पद अर्थात् पशु-पक्षी आदि का विक्रय करने का धन्धा करना 'केश-वाणिज्य' कहलाता है।

१०. **विष-वाणिज्य**—विष, शस्त्र, हल, यंत्र, लोहा और हरताल आदि प्राणघातक वस्तुओं का व्यापार करना 'विष-वाणिज्य' कहलाता है।

---

१. वन में से घास, लकड़ी काट कर लाना और वेचना।

२. जमीन फोड़कर खनिज पदार्थ निकालना, वेचना।

११. यंत्रपीडन-कर्म—तिल, ईख, सरसों और एरंड आदि को पीलने का तथा रहट आदि चलाने का धंधा करना, तिलादि देकर तेल लेने का धंधा करना और इस प्रकार के यंत्रों को बनाकर आजीविका चलाना 'यंत्रपीडन-कर्म' कहलाता है।

१२. निर्लांछन-कर्म—जानवरों की नाक बींधना—नत्थी करना, आंकना—डाम लगाना, वधिया—खस्सी करना, ऊंट आदि की पीठ गालना और कान तथा गल-कंबल का छेदन करना 'निर्लांछन-कर्म' कहा गया है।

१३. असती-पोषण-कर्म—मैना, तोता, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा एवं मयूर को पालना, दासी का पोषण करना—किसी को दास-दासी बनाकर रखना और पैसा कमाने के लिए दुश्शील स्त्रियों को रखना 'असती-पोषण-कर्म' कहलाता है।

१४-१५. दवदाव तथा सर-शोषण-कर्म—आदत के वश होकर या पुण्य समझ कर दव-जंगल में आग लगाना 'दव-दाव' कहलाता है और तालाब, नदी, द्रह आदि को सुखा देना 'सरःशोष-कर्म है।

टिप्पण—उक्त पन्द्रह कर्मादान दिग्दर्शन के लिए हैं। इनके समान विशेष हिंसाकारी अन्य व्यापार-धंधे भी हैं जो श्रावक के लिए त्याज्य है। यही बात अन्यान्य व्रतों के अतिचारों के संबंध में भी समझनी चाहिए। एक-एक व्रत के पांच-पांच अतिचारों के समान अन्य अतिचार भी व्रत-रक्षा के लिए त्याज्य हैं। —योगशास्त्र, तृतीय प्र. १०१-११३

८. अनर्थदण्डविरमणव्रत के अतिचार

आठवां अणट्ठादण्डविरमणव्रत—चउव्विहे अणट्ठादंडे पण्णत्ते तं जहा—अवज्झाणायरिए, पमायायरिए, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे (जिसमें आठ आगार—आए वा, राए वा, नाए वा, परिवारे वा, देवे वा, नागे वा, जक्खे वा, भूए वा, एत्तिएहिं आगारेहिं अण्णत्थ) जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा कायसा एवं आठवां अणट्ठादंडविरमणव्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा ते आलोऊं—कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोग-परिभोगाइरित्ते तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—बिना प्रयोजन दोषजनक-हिंसाकारी कार्य करना अनर्थदंड है। इसके चार भेद हैं—अपध्यान, प्रमादचर्या, हिंसादान और पापोपदेश। इष्ट संयोग एवं अनिष्ट वियोग की चिंता करना, दूसरों को हानि पहुँचाने आदि का विचार करना अर्थात् मन में किसी भी प्रकार का दुर्ध्यान करना अपध्यान है। असावधानी से काम करना, धार्मिक कार्यों को त्याग कर दूसरे कार्यों में लगे रहना प्रमादचर्या है। दूसरों को हल, ऊखल-मूसल, तलवार-बन्दूक आदि बिना प्रयोजन हिंसा के उप-करण देना हिंसादान है। पाप कार्यों का दूसरों को उपदेश देना पापोपदेश है।

मैं इन चारों प्रकार के अनर्थदण्ड का त्याग करता हूँ। (यदि आत्मरक्षा के लिए, राजा की आज्ञा से, जाति के तथा परिवार के, कुटुम्ब के मनुष्यों के लिए, यक्ष, भूत आदि देवों के वशीभूत होकर अनर्थदण्ड का सेवन करना पड़े तो इनका आगार (अपवाद—छूट) रखता हूँ। इन आगारों के सिवाय) मैं जन्मपर्यन्त अनर्थदण्ड का मन, वचन, काया से स्वयं सेवन नहीं करूंगा और न कराऊंगा।

यदि मैंने काम जागृत करने वाली कथाएँ की हों, भांडों की तरह दूसरों को हंसाने के लिए हंसी-दिल्लगी की हो या दूसरों की नकल की हो, निरर्थक वकवाद किया हो, तलवार, ऊखल, मूसल आदि हिंसाकारी हथियारों या औजारों का निष्प्रयोजन संग्रह किया हो, मकान वनाने आदि आरंभ-हिंसा का उपदेश दिया हो, अपनी तथा कुटुम्बियों की आवश्यकताओं के सिवाय अन्न, वस्त्र आदि का संग्रह किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और मैं चाहता हूँ कि मेरे सब पाप निष्फल हों।

९. सामायिकव्रत के अतिचार

नववां सामायिकव्रत—सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावनियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा, ऐसी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, सामायिक का अवसर आए सामायिक करूं तब फरसना करके शुद्ध होऊं एवं नवमे सामायिकव्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं—मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ अकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मैं मन-वचन-काया की दुष्ट प्रवृत्ति को त्याग कर जितने काल का नियम किया है, उसके अनुसार सामायिकव्रत का पालन करूंगा। मन में बुरे विचार उत्पन्न नहीं होने से, कठोर या पापजनक वचन नहीं बोलने से, काया की हलन-चलन आदि क्रिया को रोकने से आत्मा में जो शांति-समाधि उत्पन्न होती है, उसको सामायिक कहते हैं। इसलिए मैं नियमपर्यन्त मन, वचन, काया से पापजनक क्रिया न करूंगा और न दूसरों से कराऊंगा। यदि मैंने सामायिक के समय में बुरे विचार किए हों, कठोर वचन या पापजनक वचन बोले हों, अयतनापूर्वक शरीर से चलना-फिरना, हाथ पांव को फैलाना-संकोचना आदि क्रियाएं की हों, सामायिक करने का काल याद न रखा हो तथा अल्प-काल तक या अनवस्थित रूप से जैसे-तैसे ही सामायिक की हो तो (तस्स मिच्छा मि दुक्कडं) मैं आलोचना करता हूं। मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

१०. देशावकाशिकव्रत के अतिचार

दसवां देसावगासिकव्रत—दिन प्रति प्रभात से प्रारंभ करके पूर्वादिक छहों दिशा में जितनी भूमिका की मर्यादा रक्खी हो, उसके उपरांत आगे जाने का तथा दूसरों को भेजने का पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा। जितनी भूमिका की मर्यादा रक्खी है, उसमें जो द्रव्यादिक की मर्यादा की है, उसके उपरान्त उपभोग-परिभोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं एगविहं, तिविहेणं न करेमि मणसा, वयसा, कायसा, एवं दसवें देसावगासिक व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पुग्गलपक्खेवे, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—छठे दिग्व्रत में सदा के लिए जो दिशाओं का परिमाण किया है, देशावकाशिक व्रत में उसका प्रतिदिन संकोच किया जाता है। मैं उस संकोच किये गये दिशाओं के परिमाण से बाहर के क्षेत्र में जाने का तथा दूसरों को भेजने का त्याग करता हूँ। एक दिन और एक रात तक

परिमाण की गई दिशाओं से आगे मन, वचन, काया से न स्वयं जाऊंगा और न दूसरों को भेजूंगा। मर्यादित क्षेत्र में द्रव्यादि का जितना परिमाण किया है, उस परिमाण के सिवाय उपभोग-परिभोग निमित्त से भोगने का त्याग करता हूँ। मन, वचन, काया से मैं उनका सेवन नहीं करूंगा। देशावकाशिक व्रत की आराधना में यदि मैंने मर्यादा से वाहर की कोई वस्तु मंगाई हो, मर्यादा से वाहर के क्षेत्र में किसी वस्तु को मंगाने के लिए या लेन-देन करने के लिए किसी को भेजा हो, मर्यादा से वाहर के क्षेत्र में रहने वाले मनुष्य को शव्द करके अपना ज्ञान कराया हो, मर्यादा से वाहर के मनुष्यों को वुलाने के लिए अपना या पदार्थ का रूप दिखाया हो या कंकर आदि फेंककर अपना ज्ञान कराया हो तो मैं आलोचना करता हूँ। मेरा वह सव पाप निष्फल हो।

११. पौषधव्रत के अतिचार

ग्यारहवां पडिपुण्णपौषधव्रत—असणं पाणं खाइमं साइमं का पच्चक्खाण, अबंभसेवन का पच्चक्खाण, अमुक मणि-सुवर्ण का पच्चक्खाण, माला-वन्नग-विलेवण का पच्चक्खाण, सत्थ मुसलादिक सावज्ज जोग सेवन का पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, पौषध का अवसरे पौषध करूं तब फरसना करके शुद्ध होऊं एवं ग्यारहवां प्रतिपूर्णपौषधव्रत का पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सेज्जासंथारए, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सेज्जा-संथारए, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चार-पासवणभूमि, पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मैं प्रतिपूर्ण पौपधव्रत के विपय में एक दिन एवं रात के लिए अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अब्रह्मचर्य सेवन का, अमुक मणि-सुवर्ण आदि के आभूपण पहिनने का, फूलमाला पहिनने का, चूर्ण और चन्दनादि के लेप करने का, तलवार आदि शस्त्र और हल, मूसल आदि औजारों के प्रयोग संबंधी जितने सावद्य व्यापार हैं, उन सवका त्याग करता हूँ। यावत् एक दिन-रात पौषधव्रत का पालन करता हुआ मैं उक्त पाप-क्रियाओं को मन, वचन, काया से नहीं करूंगा और न अन्य से करवाऊंगा, ऐसी मेरी श्रद्धा-प्ररूपणा तो है किन्तु पौपध का समय आने पर जव उसका पालन करूंगा तव शुद्ध होऊंगा। पौषधव्रत के समय शय्या के लिए जो कुश, कम्वल आदि आसन हैं उनका मैंने प्रतिलेखन और प्रमार्जन नहीं किया हो अथवा यतनापूर्वक अच्छी तरह प्रतिलेखन और प्रमार्जन न किया हो, मल-मूत्र त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन न किया हो अथवा अच्छी तरह से न किया हो तथा सम्यक् प्रकार आगमोक्त मर्यादा के अनुसार पौषध का पालन न किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा सव पाप निष्फल हो।

१२. अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार

बारहवां अतिथिसंविभागव्रत—समणे निग्गंथे फासुयएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइम-वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं पडिहारिय-पीढ-फलक-सेज्जा-संथारएणं ओसह-भेसज्जेणं पडि-लाभेमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा है, साधु-साध्वी का योग मिलने पर निर्दोष दान दूं

तब शुद्ध होऊं एवं बारहवें अतिथिसंविभागव्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोऊं—सचित्तनिक्खेवणया, सचित्तपिहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिआए। जो मे देवासिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मैं अतिथिसंविभागव्रत का पालन करने के लिए निर्ग्रन्थ साधुओं को अचित्त, दोष रहित अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का, वस्त्र पात्र कम्बल पाद-पोंछन, चौकी, पट्टा, संस्तारक औषधि आदि का साधु-साध्वी का योग मिलने पर दान दूं तब शुद्ध होऊं, ऐसी मेरी श्रद्धा प्ररूपणा है। यदि मैंने साधु के योग्य अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रखा हो, अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढका हो, भोजन के समय से पहले या पीछे साधु को भिक्षा के लिए प्रार्थना की हो, दान देने योग्य वस्तु को दूसरे की बता कर साधु को दान नहीं दिया हो, दूसरे को दान देते ईर्ष्या की हो, मत्सरभाव से दान दिया हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा वह सब पाप निष्फल हो। ☐☐

[५]

पञ्चमाध्ययन : कायोत्सर्ग

पांचवां आवश्यक कायोत्सर्ग है। निर्ग्रन्थ-परम्परा का यह एक पारिभाषिक शब्द है।। यों 'काय' और 'उत्सर्ग' शब्दों के मिलने से यह शब्द निष्पन्न हुआ है, किन्तु इसका अर्थ काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग करना नहीं, वरन् शरीर के ममत्व का त्याग करना है। समस्त जागतिक वस्तुओं पर जो ममत्वभाव उत्पन्न होता है, उसका मूल शरीर ही है। जिस साधक के मन में शरीर के प्रति ममता न रह जाए, अन्य प्रत्यक्षतः भिन्न दिखने वाले पदार्थों पर उसमें ममता रह ही नहीं सकती। मुक्तिपथ का पथिक साधक प्रभु के समक्ष इसीलिए यह प्रार्थना—कामना करता है—

शरीरतः कर्त्तुमनन्तशक्तिं,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥ —आचार्य अमितगति

अर्थात् हे जिनेन्द्र ! आपके प्रसाद से मुझमें ऐसी शक्ति आविर्भूत हो जाए कि मैं अपने आपको—अपने आत्मा को उसी प्रकार शरीर से पृथक् कर सकूं, जिस प्रकार म्यान से तलवार को पृथक् कर लिया जाता है।

इस प्रकार की कामना करते-करते साधक एक दिन उस उच्च स्थिति पर पहुँच जाता है, जिसके लिए आगम निर्देश करता है—

'अवि अप्पणो वि देहंमि नायरंति ममाइयं।' —दशवैकालिक

अर्थात् अपने देह पर भी साधक का ममभाव नहीं रहता।

इस प्रकार देह में रहते हुए भी देहातीत दशा प्राप्त हो जाना महत्त्वपूर्ण साधना है। इसी को प्राप्त करने के स्पृहणीय उद्देश्य से कायोत्सर्ग किया जाता है और इसे आवश्यकों में परिगणित किया है। यह एक प्रकार का प्रायश्चित्त भी है, जिसके द्वारा पूर्वकृत पापों का विनाश होता है और साधना में निर्मलता आती है—

तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं णिग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।

अर्थात् संयम को अधिक उच्च बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्धि करने के लिए, आत्मा को शल्यरहित करने के लिए और पाप-कर्मों का समूल नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग दो प्रकार का है—द्रव्यकायोत्सर्ग और भावकायोत्सर्ग। शारीरिक चेष्टाओं—व्यापारों का त्याग करके, जिन-मुद्रा से एक स्थान पर निश्चल खड़े रहना द्रव्यकायोत्सर्ग है। आर्त्त

और रौद्र ध्यानों का त्याग कर धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में निरत होना, मन में शुभ भावनाओं का प्रवाह बहाना, आत्मा को अपने शुद्ध मूलस्वरूप में प्रतिष्ठित करना—

'सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति, दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।'

—आचार्य जिनदास

उत्तराध्यनसूत्र में कायोत्सर्ग को समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्त करने वाला कहा गया है।

कायोत्सर्ग हो अथवा अन्य कोई क्रिया, भावपूर्वक करने पर ही वास्तविक फलप्रद होती है। ऊपर कायोत्सर्ग का जो महत्त्व प्रदर्शित किया गया है, वह वस्तुतः भावपूर्वक किये जाने वाले कायोत्सर्ग का ही महत्त्व है। भावविहीन मात्र द्रव्यकायोत्सर्ग आत्मविशुद्धि का कारण नहीं होता। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए एक आचार्य ने कायोत्सर्ग के चार रूपों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—

१. **उत्थित-उत्थित**—कायोत्सर्ग करने वाला साधक जब द्रव्य के साथ भाव से भी खड़ा होता है अर्थात् दुर्ध्यान से हट कर जब धर्म-शुक्लध्यान में रमण करता है; तब वह उत्थित-उत्थित कायोत्सर्ग करता है। यह रूप सर्वथा उपादेय है।

२. **उत्थित-निविष्ट**—द्रव्य से खड़ा होना, भाव से खड़ा न होना अर्थात् दुर्ध्यान करना। यह रूप हेय है।

३. **उपविष्ट-उत्थित**—कोई अशक्त या अतिवृद्ध साधक खड़ा नहीं हो सकता, किन्तु भाव से खड़ा होता है—शुभध्यान में लीन होता है, तब वह कायोत्सर्ग उपविष्ट-उत्थित कहलाता है। यह रूप भी उपादेय है।

४. **उपविष्ट-निविष्ट**—कोई प्रमादशील साधक जब शरीर से भी खड़ा नहीं होता और भाव से भी खडा नहीं होता तब कायोत्सर्ग का यह रूप होता है। यह वास्तव में कायोत्सर्ग नहीं, किन्तु कायोत्सर्ग का दम्भमात्र है।

पंचम आवश्यकरूप कायोत्सर्ग करते समय यद्यपि अन्यान्य पाठों का भी उच्चारण किया जाता है, परन्तु 'लोगस्स' का ध्यान ही इसका प्रमुख अंग है। अन्यत्र उल्लिखित विधि से यह सब स्पष्ट हो जाएगा। □

[६]

षष्ठाध्ययन : प्रत्याख्यान

दसविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—

'अणागयमइक्कंतं, कोडीसहियं नियंटियं चेव ।

सागारमणागारं, परिमाणकडं निरवसेसं ।

संकेयं चेव अद्धाए, पच्चक्खाणं भवे दसहा ।।'

पिछले अध्ययनों में प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग द्वारा पूर्वसञ्चित कर्मों का क्षय कहा गया है। इस छठे अध्ययन में नवीन बंधने वाले कर्मों का निरोध कहा जाता है। अथवा पांचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग द्वारा अतिचार रूप व्रत की चिकित्सा का निरूपण किया गया है। चिकित्सा के अनन्तर गुण की प्राप्ति होती है, अतः 'गुणधारण' नामक इस प्रत्याख्यान अध्ययन में मूलोत्तर गुण की धारणा कहते हैं।

भविष्य में लगने वाले पापों से निवृत्त होने के लिए गुरुसाक्षी या आत्मसाक्षी से हेय वस्तु के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते हैं। प्रत्याख्यान भविष्यत्कालिक पापों का निरोधक है। वह दस प्रकार का है—

(१) अनागत—वैयावृत्य आदि किसी अनिवार्य कारण से, नियत समय से पहले ही तप कर लेना।

(२) अतिक्रान्त—कारणवश नियत समय के बाद तप करना।

(३) कोटिसहित—जिस कोटि (चतुर्थभक्त आदि के क्रम) से तप प्रारम्भ किया, उसी से समाप्त करना।

(४) नियन्त्रित—वैयावृत्य आदि प्रबल कारणों के हो जाने पर भी संकल्पित तप का परित्याग न करना। (यह प्रत्याख्यान वज्रऋषभनाराचसंहननधारी अनगार ही कर सकते हैं।)

(५) साकार—जिसमें उत्सर्ग (अवश्य रखने योग्य अण्णत्थणाभोग और सहसागाररूप) तथा अपवाद रूप आगार रखे जाते हैं, उसे साकार या सागार कहते हैं।

(६) अनाकार—जिस तप में अपवादरूप आगार न रखे जाएं, उसे अनाकार कहते हैं।

(७) परिमाणकृत—जिसमें दत्ति आदि का परिमाण किया जाय।

(८) निरवशेष—जिसमें अशनादि का सर्वथा त्याग हो।

(९) संकेत—जिसमें मुट्ठी खोलने आदि का संकेत हो, जैसे—"मैं जब तक मुट्ठी नहीं खोलूंगा तब तक मेरे प्रत्याख्यान हैं" इत्यादि।

(१०) अद्धाप्रत्याख्यान—मुहूर्त्त, पौरुषी आदि काल की अवधि के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान।

१. नमस्कारसहित-सूत्र

उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, वोसिरामि।

भावार्थ—सूर्य उदय होने पर नमस्कारसहित—दो घड़ी दिन चढ़े तक का (नोकारसी का) प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ और अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम—इन चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में दो आगार अर्थात् अपवाद हैं—अनाभोग—अत्यन्त विस्मृति और सहसाकार—शीघ्रता (अचानक)। इन दो आगारों के सिवा चारों आहार वोसिराता हूँ—त्याग करता हूँ।

विवेचन—नमस्कारसहित अर्थात् सूर्योदय से लेकर दो घड़ी दिन चढ़े तक यानी मुहूर्त भर के लिये नमस्कार पढ़े बिना आहार ग्रहण नहीं करना। साधारण वोलचाल की भाषा में इसे 'नवकारसी' (नोकारसी) कहते हैं।

चार प्रकार का आहार •

(१) **अशन**—इसमें रोटी, चावल आदि सभी प्रकार का भोजन आ जाता है।

(२) **पान**—दूध, पानी आदि सभी पीने योग्य चीजें पान में समाविष्ट हैं। किन्तु परम्परा के अनुसार यहाँ पान से केवल जल ही ग्रहण किया जाता है।

३. **खादिम**—मेवा, फल आदि। कुछ आचार्य मिष्टान्न को अशन में ग्रहण करते हैं और कुछ खादिम में।

४. **स्वादिम**—लौंग, इलायची, सुपारी आदि मुखवास को स्वादिम माना है। इस आहार में उदरपूर्ति की दृष्टि न होकर मुख्यतया मुख के स्वाद की दृष्टि होती है।

संस्कृत भाषा का 'आकार' ही प्राकृत भाषा में 'आगार' कहलाता है। आकार का अर्थ—अपवाद माना जाता है। अपवाद का अर्थ है—यदि किसी विशेष स्थिति में त्याग की हुई वस्तु सेवन कर ली जाए या करनी पड़ जाए तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है। अतएव व्रत अंगीकार करते समय आवश्यक आगार रखना चाहिये। ऐसा न करने पर व्रत भंग की संभावना रहती है—

'आक्रियते विधीयते प्रत्याख्यानभंगपरिहारार्थमित्याकारः'—'प्रत्याख्यानं च अपवादरूपाकार-सहितं कर्त्तव्यम्, अन्यथा तु भंगः स्यात्।' —आचार्य हेमचन्द्र (योगशास्त्र)

अनाभोग और सहसाकार दोनों ही आगारों के सम्बन्ध में यह वात है कि जब तक पता न चले, तब तक तो व्रत भंग नहीं होता। परन्तु पता चल जाने के वाद भी मुख में ग्रास ले लिया हो और उसे थूके नहीं एवं आगे खाना वन्द नहीं करे तो व्रत भंग हो जाता है। अतः साधक का कर्त्तव्य है कि जैसे ही पता चले, भोजन वन्द कर दे और जो कुछ मुख में हो, वह सब यतना के साथ थूक दे। ऐसा न करे तो व्रत भंग हो जाता है।

२. पौरुषी-सूत्र

उग्गए सूरे पोरिसिं पच्चक्खामि; चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि ।

भावार्थ—पौरुषी का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूर्योदय से लेकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का एक प्रहर दिन चढ़े तक त्याग करता हूँ।

इस व्रत के आगार छह हैं— (१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) प्रच्छन्नकाल, (४) दिशा-मोह, (५) साधुवचन, (६) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। इन छह आकारों के सिवाय पूर्णतया चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—सूर्योदय से लेकर एक प्रहर दिन चढ़े तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, पौरुषी-प्रत्याख्यान है।

पौरुषी का शाब्दिक अर्थ है—'पुरुष-प्रमाण छाया।' एक प्रहर दिन चढ़ने पर मनुष्य की छाया घटते-घटते अपने शरीर प्रमाण लम्बी रह जाती है। इसी भाव को लेकर 'पौरुषी' शब्द प्रहर-परिमित कालविशेष के अर्थ में लक्षणा वृत्ति के द्वारा रूढ़ हो गया है।

पौरुषी के छह आगार इस प्रकार हैं—

(१) **अनाभोग**—प्रत्याख्यान की विस्मृति—उपयोगशून्यता हो जाने से भोजन कर लेना।

(२) **सहसाकार**—अकस्मात् जल आदि का मुख में चले जाना।

(३) **प्रच्छन्नकाल**—बादल अथवा आंधी आदि के कारण सूर्य के ढक जाने से पौरुषी पूर्ण हो जाने की भ्रान्ति से आहार कर लेना।

(४) **दिशामोह**—पूर्व को पश्चिम समझ कर पौरुषी न आने पर भी सूर्य के ऊंचा चढ़ आने की भ्रान्ति से अशनादि सेवन कर लेना।

(५) **साधुवचन**—'पौरुषी आ गई' इस प्रकार किसी आप्त पुरुष के कहने पर बिना पौरुषी आए ही पौरुषी का पारण कर लेना।

(६) **सर्वसमाधिप्रत्ययाकार**—किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशांति के लिए औषधि आदि ग्रहण करना।

प्रच्छन्नकाल, दिशामोह और साधुवचन, उक्त तीनों आगारों का अभिप्राय यह है कि भ्रांति के कारण पौरुषी पूर्ण न होने पर भी पूर्ण समझकर भोजन कर ले तो व्रत भंग नहीं होता है। यदि भोजन करते समय यह मालूम हो जाए कि अभी पौरुषी पूर्ण नहीं हुई है तो उसी समय भोजन करना छोड़ देना चाहिए।

पौरुषी के समान ही सार्धपौरुषी-प्रत्याख्यान, भी होता है। इसमें डेढ़ प्रहर दिन चढ़े तक आहार का त्याग करना होता है। अतः जब उक्त सार्धपौरुषी का प्रत्याख्यान करना हो तब 'पोरिसिं' के स्थान पर 'सड्ढपोरिसिं' पाठ बोलना चाहिए।

३. पूर्वार्ध-सूत्र

उग्गए सूरे, पुरिमड्ढं पच्चक्खामि; चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक चारों प्रकार के आहार—अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार, इन सात आगारों के सिवाय पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—यह पूर्वार्ध-प्रत्याख्यान का सूत्र है। इसमें सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्व भाग तक अर्थात् दो प्रहर दिन चढ़े तक चारों तरह के आहार का त्याग किया जाता है।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में सात आगार माने गए हैं। छह तो पूर्वोक्त पौरुषी के ही आगार हैं, सातवां आगार महत्तराकार है। 'महत्तराकार' में 'महत्तर' शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया गया है—महत्तर अर्थात् अपेक्षाकृत महान् पुरुष आचार्य, उपाध्याय आदि गच्छ या संघ के प्रमुख तथा अपेक्षाकृत महान् निर्जरा वाला कोई प्रयोजन या कार्य, तदनुसार अर्थ है कि महान्—अपेक्षाकृत अधिक निर्जरा को ध्यान में रखकर रोगी आदि की सेवा के लिए या श्रमण-संघ के किसी अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए निश्चित समय से पहले ही प्रत्याख्यान पार लेना। यहाँ महत्तर का अर्थ है—महान् निर्जरा-साधक प्रयोजन। यथा आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—

'महत्तरं—प्रत्याख्यानपालनवशाल्लभ्यनिर्जरापेक्षया बृहत्तरनिर्जरालाभहेतुभूतं, पुरुषान्तरेण साधयितुमशक्यं ग्लानचैत्यसंघादि-प्रयोजनं, तदेव आकारः—प्रत्याख्यानापवादो महत्तराकारः।'

अर्थात्—प्रत्याख्यान के पालन से जितनी निर्जरा होती है, उससे भी महान् निर्जरा का कारण एवं किसी अन्य पुरुष से जो न हो सकता हो, ऐसा कोई रुग्णमुनि की सेवा या संघ संबंधी कोई प्रयोजन उपस्थित हो जाना महत्तराकार है। ऐसी स्थिति में यदि समय से पूर्व आहार ग्रहण कर लिया जाए तो व्रतभंग नहीं होता। इस अर्थ के अनुसार आचार्यादि के आदेश के बिना भी व्रतधारी अपने विवेक से ही इस आगार का सेवन कर सकता है।

किन्तु आचार्य नमि प्रतिक्रमण-सूत्र वृत्ति में लिखते हैं—

"अतिशयेन महान् महत्तर आचार्यादिस्तस्य वचनेन मर्यादया करणं महत्तराकारो, यथा केनापि साधुना भक्तं प्रत्याख्यातं, ततश्च कुल-गण-संघादि-प्रयोजनमनन्यसाध्यमुत्पन्नं, तत्र चासौ महत्तरेराचार्यैर्नियुक्तः, ततश्च यदि शक्नोति तथैव कर्तुं तदा करोति; अथ न, तदा महत्तर-कादेशेन भुञ्जानस्य न भंग इति।"

तात्पर्य यह है—जो बहुत महान् हों, वे आचार्यादि महत्तर कहलाते हैं। उनके आदेश से मर्यादापूर्वक जो किया जाए वह महत्तरागार कहलाता है। यथा—किसी साधु ने आहार का त्याग किया। उसके पश्चात् कुल, गण या संघ आदि का कोई कार्य आ पड़ा और वह कार्य भी ऐसा कि

दूसरे के द्वारा हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यदि प्रत्याख्यान का पालन करता हुआ उस कार्य को कर सके तो करे। यदि प्रत्याख्यान के साथ वह कार्य सम्पन्न न कर सके तो आहार कर ले। इस अवस्था में प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। इस अर्थ के अनुसार आचार्यादि महान् पुरुष 'महत्तर' हैं। उनके आदेश से ही यह आगार सेवन किया जा सकता है।

पूर्वार्ध-प्रत्याख्यान के समान ही अपार्ध-प्रत्याख्यान भी होता है। अपार्ध-प्रत्याख्यान का अर्थ है—तीन प्रहर दिन चढ़े तक आहार ग्रहण न करना। अपार्ध-प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय 'पुरिमड्ढं' के स्थान में 'अवड्ढं' पाठ बोलना चाहिये। शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानों का समान है।

४. एकासन-सूत्र

एगासणं पच्चक्खामि तिविहं पि आहारं असणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, आउंटण-पसारणेणं, गुरु-अब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ—मैं एकाशन तप स्वीकार करता हूँ। फलतः अशन, खादिम और स्वादिम—इन तीनों प्रकार के आहारों का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस व्रत के आगार आठ हैं, यथा—

(१) अनाभोग, (२) सहसागार, (३) सागारिकाकार, (४) आकुञ्चनप्रसारण, (५) गुर्वभ्युत्थान, (६) पारिष्ठापनिकाकार, (७) महत्तराकार, (८) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। उक्त आठ आगारों के सिवा आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—दिन में एक वार भोजन करना, एकाशन तप कहलाता है। एकाशन का अर्थ है—एक+अशन,[1] अर्थात् एक वार भोजन करना।

प्रत्याख्यान, गृहस्थ तथा साधु दोनों के लिए समान ही है। फिर भी गृहस्थ को ध्यान रहे कि वह एकाशन में अचित्त अर्थात् प्रासुक आहार-पानी ही ग्रहण करे। साधु को तो यावज्जीवन के लिए अप्रासुक आहार का त्याग ही है। श्रावक को मूल पाठ बोलते समय **'पारिट्ठावणियागरेणं'** पाठ नहीं बोलना चाहिए।

एकाशन और द्विकाशन में भोजन करते समय तो यथेच्छ चारों आहार लिए जा सकते हैं, परन्तु भोजन के वाद शेषकाल में भोजन का त्याग होता है। यदि एकाशन तिविहार करना हो तो शेषकाल में पानी पिया जा सकता है। यदि चउविहार करना हो तो पानी भी नहीं पिया जा सकता। यदि दुविहार करना हो तो भोजन के वाद पानी तथा स्वादिम—मुखवास लिया जा सकता है। आज-

१. 'एगासण' प्राकृत-शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो होते हैं—'एकाशन' और 'एकासन'।
(१) 'एकाशन' का अर्थ है—एक वार भोजन करना।
(२) 'एकासन' का अर्थ है—एक आसन से भोजन करना।
'एगासण' में दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। **'एकं सकृत् अशनं—भोजनं एकं वा आसनं—पुताचलनतो यत्र प्रत्याख्याने तदेकाशनमेकासनं वा, प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपम्।** —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति।
आचार्य हरिभद्र एकासन की व्याख्या करते हैं कि एक वार बैठकर फिर न उठते हुए भोजन करना।
'एकाशनं नाम सकृदुपविष्ट पताचालनेन भोजनम्। —आवश्यकवृत्ति।

कल तिविहार एकाशन की प्रथा ही प्रचलित है, अतः मूलपाठ में 'तिविहं' पाठ दिया है। यदि चउविहार करना हो तो **'चउविहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं'** ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

दुविहार-एकाशन की परम्परा प्राचीनकाल में थी। आज के युग में इसका प्रचलन बहुत कम है, यद्यपि सर्वथा का अभाव नहीं है।

एकाशन में आठ आगार होते हैं। चार पहले आ चुके हैं, शेष चार इस प्रकार हैं—

१. सागारिकाकार—आगम की भाषा में सागारिक गृहस्थ को कहते हैं। गृहस्थ के आ जाने पर उसके सम्मुख भोजन करना निषिद्ध है। अतः सागारिक के आने पर साधु को भोजन करना छोड़कर यदि बीच में ही उठकर, एकान्त में जाकर पुनः दूसरी बार भोजन करना पड़े तो व्रत भंग नहीं होता है।

१. आकुञ्चनप्रसारण—भोजन करते समय सुन्न पड़ जाने पर हाथ, पैर आदि अंगों का सिकोड़ना या फैलाना।

३. गुर्वभ्युत्थान—गुरुजन एवं किसी अतिथिविशेष के आने पर उनका विनय-सत्कार करने के लिए उठना, खड़े होना।

प्रस्तुत आगार का आशय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। गुरुजन एवं अतिथिजन के आने पर अवश्य ही उठकर खड़ा हो जाना चाहिए। उस समय यह भ्रांति नहीं रखनी चाहिए कि 'एकासन में उठकर खड़े होने का विधान नहीं है। अतः उठने या खड़े होने से व्रत भंग के कारण मुझे दोष लगेगा।' गुरुजनों के लिए उठने में कोई दोष नहीं है, इससे व्रत भंग नहीं होता, प्रत्युत विनय तप की आराधना होती है। आचार्य सिद्धसेन लिखते हैं—

गुरूणामभ्युत्थानार्हत्वादवश्यं भुञ्जानेनाऽप्युत्थानं कर्त्तव्यमिति, न तत्र प्रत्याख्यानभङ्गः।'

—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

४. पारिष्ठापनिकाकार—जैन मुनि के लिए विधान है कि वह अपनी आवश्यक क्षुधापूर्ति के लिए परिमित मात्रा में ही आहार लाए, अधिक नहीं। तथापि कभी भ्रांतिवश यदि किसी मुनि के पास आहार अधिक आ जाय और वह परठना—डालना पड़े तो उस आहार को गुरुदेव की आज्ञा से तपस्वी मुनि को ग्रहण कर लेना चाहिए।

आचार्य सिद्धसेन ने कहा है—आहार को परठ देने में बहुत दोषों की संभावना रहती है और उसे ग्रहण—भक्षण कर लेने में आगमिक न्याय के अनुसार गुण-लाभ है, अतएव गुरु की आज्ञा से पुनः उसका उपभोग कर लेने से व्रत-भंग नहीं होता।[1]

५. एगट्ठाणपच्चक्खाण

एक्कासणं एगट्ठाणं पच्चक्खामि, तिविहं[2] पि आहारं—असणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

---

१. प्रवचनसारोद्धारवृत्ति।

२. चारों प्रकार के आहार का त्याग करना हो तो 'चउव्विहं पि' ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

भावार्थ—एकाशन रूप एकस्थान व्रत को ग्रहण करता हूँ। अशन, खादिम और स्वादिम तीनों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) सागारिकाकार, (४) गुर्वभ्युत्थान, (५) पारिष्ठापनिकाकार, (६) महत्तराकार और (७) सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार—उक्त सात आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—यह एकस्थान का सूत्र है। एकस्थानान्तर्गत 'स्थान' शब्द 'स्थिति' का वाचक है। अतः एक स्थान का फलितार्थ है—'दाहिने हाथ एवं मुख के अतिरिक्त शेष सब अंगों को हिलाए विना, दिन में एक ही आसन से और एक ही बार भोजन करना। अर्थात् भोजन प्रारंभ करते समय जो स्थिति, जो अंगविन्यास हो, जो आसन हो, उसी स्थिति, अंगविन्यास एवं आसन से भोजन की समाप्ति तक बैठे रहना चाहिए।'

आचार्य जिनदास ने आवश्यकचूर्णि में एक स्थान की यही परिभाषा की है—'एकट्ठाणे जं जथा अंगुवंगं ठवियं तहेव समुद्दिसितव्वं, आगारे से आउंटणपसारणं नत्थि, सेसा सत्त तहेव।'

एक स्थान की अन्य विधि सब 'एकाशन' के समान है। केवल हाथ, पैर आदि के आकुंचन-प्रसारण का आगार नहीं रहता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में 'आउंटणपसारणेणं' का उच्चारण नहीं किया जाता है।

६. आचाम्ल—आयंबिलप्रत्याख्यानसूत्र

आयंबिलं पच्चक्खामि, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, उक्खित्तविवेगेणं, गिहिसंसट्ठेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ—आयंबिल अर्थात् आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थसंसृष्ट, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त आठ आकार अर्थात् अपवादों के अतिरिक्त अनाचाम्ल आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—आचाम्ल व्रत में दिन में एक बार रूक्ष, नीरस एवं विकृति-रहित आहार ही ग्रहण किया जाता है, दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शक्कर, पक्वान्न आदि किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन, आचाम्ल-व्रत में ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्राचीन आचारग्रन्थों में चावल, उड़द अथवा सत्तू आदि में से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल करने का विधान है।

एकाशन और एकस्थान की अपेक्षा आयंबिल का महत्त्व अधिक है। एकाशन और एकस्थान में तो एक बार के भोजन में यथेच्छ सरस आहार भी ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु आयंबिल के एक बार के भोजन में तो केवल उबले हुए उड़द के बाकले आदि लवण रहित, नीरस आहार ही ग्रहण किया जाता है। भावार्थ यह है कि आचाम्ल तप में रसलोलुपता पर विजय प्राप्त करने का महान् आदर्श है। जिह्वेन्द्रिय का संयम, एक बहुत बड़ा संयम है।

आयंबिल भी साधक की इच्छानुसार चतुर्विधाहार एवं त्रिविधाहार किया जाता है। चतुर्विधाहार करना हो तो 'चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं' बोलना चाहिए और त्रिविध में पाणं नहीं बोलना चाहिये।

आयंबिल में आठ आगार माने गए हैं। आठ में से पांच आगार तो पूर्व प्रत्याख्यानों के समान ही हैं, नवीन तीन आगार इस प्रकार हैं—

१. **लेपालेप**—आचाम्लव्रत में ग्रहण न करने योग्य शाक तथा घृत आदि विकृति से यदि पात्र अथवा हाथ आदि लिप्त हो और दाता गृहस्थ यदि उसे पोंछकर उसके द्वारा आचाम्ल-योग्य भोजन वहराए तो ग्रहण कर लेने पर व्रत भंग नहीं होता है।

'लेपालेप' शब्द 'लेप' और 'अलेप' मिलकर समस्त होकर बना है। लेप का अर्थ घृतादि से पहले लिप्त होना है। अलेप का अर्थ है बाद में उसको पोंछकर अलिप्त कर देना। पोंछ देने पर भी विकृति का कुछ अंश लिप्त रहता ही है। अतः आचाम्ल में लेपालेप का आगार रखा जाता है।

'लेपश्च अलेपश्च लेपालेपं तस्मादन्यत्र, भाजने विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न-भङ्ग इत्यर्थः।'
—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

२. **उत्क्षिप्त-विवेक**—शुष्क ओदन एवं रोटी आदि पर गुड़ तथा शक्कर आदि अद्रव-सूखी विकृति पहले से रखी हो, आचाम्लव्रतधारी मुनि को यदि कोई वह विकृति उठाकर रोटी आदि देना चाहे तो ग्रहण की जा सकती है। उत्क्षिप्त का अर्थ उठाना है और विवेक का अर्थ है—हटाना—उठाने के बाद उसका न लगा रहना।

३. **गृहस्थसंसृष्ट**—घृत अथवा तैल आदि विकृति से छोंके हुए कुल्माष आदि लेना गृहस्थ-संसृष्ट आगार है। उक्त आगार में यह ध्यान रखने की बात है कि यदि विकृति का अंश स्वल्प हो, तब तो व्रत भंग नहीं होता, परन्तु विकृति यदि अधिक मात्रा में हो तो वह ग्रहण कर लेने से व्रत भंग का निमित्त बनती है।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि लेपालेप, उत्क्षिप्त-विवेक, गृहस्थसंसृष्ट और पारिष्ठापनिकागार—ये चार आगार साधु के लिए ही हैं, गृहस्थ के लिए नहीं।

७. अभक्तार्थ—उपवास-सूत्र

उग्गए सूरे, अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ—उपवास ग्रहण करता हूँ, फलतः अशन, पान, खादिम, स्वादिम, चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त पांच आगारों के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—अभक्तार्थ—भक्त का अर्थ भोजन है। 'अर्थ' का अर्थ 'प्रयोजन' है। 'अ' का अर्थ 'नहीं' है। तीनों मिलाकर अर्थ होता है—भक्त का प्रयोजन नहीं है जिस व्रत में वह, अर्थात् उपवास। **'न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्याने सोऽभक्तार्थः स उपवासः।** —श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति, देवेन्द्र कृत

चउव्विहाहार और तिविहाहार के रूप में उपवास दो प्रकार का होता है। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना 'चउव्विहाहार अभत्तट्ठ' कहलाता है।

तिविहाहार अर्थात् त्रिविधाहार उपवास में पानी लिया जाता है। अतः जल सम्बन्धी छह आगार मूल पाठ में 'सव्वसमाहिवत्तियागारेणं' के आगे इस प्रकार बढ़ाकर बोलना चाहिये— **"पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहलेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरामि।"**

उक्त छह आगारों का उल्लेख जिनदासमहत्तर, हरिभद्र और सिद्धसेन आदि प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने किया है। केवल उपवास में ही नहीं अन्य प्रत्याख्यानों में भी जहाँ त्रिविधाहार करना हो, सर्वत्र उपर्युक्त पाठ बोलने का विधान है। यद्यपि आचार्य जिनदास आदि ने इस का उल्लेख अभक्तार्थ के प्रसंग पर ही किया है।

उक्त जल सम्बन्धी आगारों का भावार्थ इस प्रकार है:—

१. लेपकृत—दाल आदि का माँड तथा इमली, खजूर, द्राक्षा आदि का पानी। वह सब पानी जो पात्र में उपलेपकारक हो, लेपकृत कहलाता है। त्रिविधाहार में इस प्रकार का पानी ग्रहण किया जा सकता है।

२. अलेपकृत—छाछ आदि का निथरा हुआ और काँजी आदि का पानी अलेपकृत कहलाता है। अलेपकृत पानी से वह धोवन लेना चाहिए, जिसका पात्र में लेप न लगता हो।

३. अच्छ—अच्छ का अर्थ स्वच्छ है। गर्म किया हुआ स्वच्छ पानी ही अच्छ शब्द से ग्राह्य है। हां, प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के रचयिता आचार्य सिद्धसेन उष्णोदकादि का कथन करते हैं। 'अपिच्छलात् उष्णोदकादेः।' परन्तु आचार्यश्री ने स्पष्टीकरण नहीं किया कि 'आदि' शब्द से उष्ण जल के अतिरिक्त और कौन सा जल ग्राह्य है? संभव है फल आदि का स्वच्छ धोवन ग्राह्य हो। एक गुजराती अर्थकार ने ऐसा लिखा भी है।

४. बहल—तिल, चावल और जौ आदि का चिकना माँड बहल कहलाता है। बहल के स्थान पर कुछ आचार्य बहुलेप शब्द का भी प्रयोग करते हैं।

५. ससिक्थ—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन जिसमें सिक्थ अर्थात् आटे आदि के कण भी हों। इस प्रकार का जल त्रिविधाहार उपवास में लेने से व्रत भंग नहीं होता।

६. असिक्थ—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जो छना हुआ हो, फलतः जिसमें आटे आदि के कण न हों।

पण्डित सुखलाल जी का कहना है—प्रारम्भ से ही चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' बोलना चाहिए। यदि प्रारम्भ में त्रिविधाहार किया हो, परन्तु पानी न लेने के कारण सायंकाल के समय तिविहाहार से चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणिया-गारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

८. दिवसचरिम-सूत्र

दिवसचरिमं (भवचरिमं वा) पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ—दिवसचरम का (अथवा भवचरम का) व्रत ग्रहण करता हूँ, फलत: अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसागार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार, उक्त चार आगारों के सिवाय आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—यह चरमप्रत्याख्यान-सूत्र है। 'चरम' का अर्थ 'अन्तिम' है। वह दो प्रकार का है—दिवस का अन्तिम भाग और भव अर्थात् आयु का अन्तिम भाग। सूर्य अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए चारों अथवा तीनों आहारों का त्याग करना, दिवसचरम-प्रत्याख्यान है।

भवचरमप्रत्याख्यान का अर्थ है—जब साधक को यह निश्चय हो जाए कि आयु थोड़ी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारों या तीनों प्रकार के आहार का त्याग कर दे और संथारा ग्रहण करके संयम की आराधना करे। भवचरम का प्रत्याख्यान, जीवन भर की संयमसाधना सम्बन्धी सफलता का उज्ज्वल प्रतीक है।

'भवचरम' का प्रत्याख्यान करना हो तो 'दिवसचरिमं' के स्थान पर 'भवचरिमं' बोलना चाहिए। शेष पाठ दिवसचरिम के समान ही है।

मुनि के लिए जीवनपर्यन्त त्रिविधं त्रिविधेन रात्रिभोजन का त्याग होता है। अत: उनको दिवसचरम के द्वारा शेष दिन के भोजन का त्याग होता है और रात्रिभोजन-त्याग का अनुवादकत्वेन स्मरण हो जाता है। रात्रिभोजन-त्यागी गृहस्थों के लिए भी यही बात है। जिनको रात्रि-भोजन का त्याग नहीं है, उनको दिवसचरम के द्वारा शेष दिन और रात्रि के लिए भोजन का त्याग हो जाता है।

९. अभिग्रह-सूत्र

अभिग्गहं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ—मैं अभिग्रह का व्रत ग्रहण करता हूँ, अतएव अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का (संकल्पित समय तक) त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार इन चार आगारों के सिवाय अभिग्रहपूर्ति तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—उपवास आदि के बाद अथवा विना उपवास आदि के भी अपने मन में निश्चित प्रतिज्ञा कर लेना कि अमुक बातों के मिलने पर ही पारणा अर्थात् आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा व्रत, बेला, आदि संकल्पित दिनों की अवधि तक आहार ग्रहण नहीं करूंगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा को 'अभिग्रह' कहते हैं।

अभिग्रह में जो बातें धारण करनी हों, उन्हें मन में निश्चय कर लेने के बाद ही उपर्युक्त पाठ के द्वारा प्रत्याख्यान करना चाहिये। अभिग्रह की प्रतिज्ञा कठिन होती है। धीर एवं वीर साधक ही अभिग्रह का पालन कर सकते हैं। जैन इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि एक साधु ने सिंह केस-रिया मोदकों का अभिग्रह कर लिया था और वह अभिग्रह जब पूरा न हुआ तो पागल होकर रात-

दिन का विचार न रखकर पात्र लिए घूमने लगा। कल्पसूत्र की टीकाओं में उक्त उदाहरण आता है, अतः अभिग्रह करते समय अपनी शक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिये।

१०. निर्विकृतिक सूत्र

निव्विगइयं पच्चक्खामि, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसिट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि।

भावार्थ—मैं विकृतियों का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थ-संसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षित, पारिष्ठापनिक, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार इन नौ आगारों के सिवाय विकृति का परित्याग करता हूँ।

विवेचन—मन में विकार उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थों को विकृति कहते हैं—

'मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विकृतयः'—आचार्य हेमचन्द्र-कृत योगशास्त्रवृत्ति (तृतीय प्रकाश)।

विकृति में दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु आदि भोज्य पदार्थ सम्मिलित हैं।

भोजन का वास्तविक उद्देश्य है शरीर और साथ ही मन को सबल बनाना। मन की सबलता से तात्पर्य है उसे शुद्ध अर्थात् दोष रहित रखना। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। किंतु इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि मन के स्वस्थ न रहने पर भी काफी सीमा तक, जिसे हम केवल शारीरिक स्वस्थता कहते हैं, वह बनी रहती है। पर उससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता बल्कि हानि ही होती है। अतः आवश्यक है कि शरीर को ऐसी शुद्ध खुराक दी जाए जिससे शरीर भी स्वस्थ रहे और मन भी तथा इन दोनों की शुद्धता से आत्मा उन्नत हो सके। इसलिए शास्त्रकारों ने बतलाया है कि भोजन में सात्त्विकता रखनी चाहिये। विकारजनक भोजन संयम को दूषित किए बिना नहीं रह सकता।

निर्विकृति के नौ आगार हैं। आठ आगारों का वर्णन तो पहले के पाठों में यथास्थान आ चुका है। 'प्रतीत्यम्रक्षित' नामक आगार नया है। भोजन बनाते समय जिन रोटी आदि पर सिर्फ उंगली से घी आदि चुपड़ा गया हो ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करना, प्रतीत्यम्रक्षित आगार कहलाता है। इस आगार का यह भाव है कि घृत आदि विकृति का त्याग करने वाला साधक धारा के रूप में घृत आदि नहीं खा सकता है। घी से अत्यल्प रूप में चुपड़ी हुई रोटियां खा सकता है।

'प्रतीत्य सर्वथा रूक्षमण्डकादि, ईषत्सौकुमार्यं प्रतिपादनाय यदंगुल्या ईषद् घृतं गृहीत्वा म्रक्षितं तदा कल्पते, न तु धारया।' —देवेन्द्र प्रतिक्रमणवृत्ति, तिलकाचार्य

११. प्रत्याख्यान पारणा-सूत्र

उग्गए सूरे नमुक्कार-सहियं····पच्चक्खाणंकयं। तं पच्चक्खाणं सम्मं काएणं फासियं, पालियं, तीरियं, किट्टियं, सोहियं, आराहियं। जं च न आराहियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर जो नमस्कार सहित या····प्रत्याख्यान किया था, वह प्रत्याख्यान (मन, वचन) शरीर के द्वारा सम्यक् रूप से स्पृष्ट, पालित, शोधित, तीर्ण, कीर्तित एवं आराधित किया और जो सम्यक् रूप से आराधित न किया हो, उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।

विवेचन—यह प्रत्याख्यानपूर्ति का सूत्र है। कोई भी प्रत्याख्यान किया हो, उसकी समाप्ति प्रस्तुत सूत्र के द्वारा करनी चाहिये। ऊपर मूल पाठ में 'नमुक्कारसहियं' नमस्कारिका का सूचक सामान्य शब्द है। इसके स्थान में जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रखा हो, उसका नाम लेना चाहिये। जैसे कि पौरुपी ली हो तो 'पौरुसीपच्चक्खाणं कयं' ऐसा कहना चाहिये।

प्रत्याख्यान पालने के छह अंग हैं—

(१) **फासियं** (स्पृष्ट अथवा स्पर्शित)—गुरुदेव से या स्वयं विधिपूर्वक प्रत्याख्यान लेना।

(२) **पालियं** (पालित)—प्रत्याख्यान को वार-वार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना।

(३) **सोहियं** (शोधित)—कोई दूपण लग जाए तो सहसा उसकी शुद्धि करना। अथवा 'सोहिय' का संस्कृत रूप शोभित भी होता है। इस दशा में अर्थ होगा—

गुरुजनों को, साथियों को अथवा अतिथि जनों को भोजन देकर स्वयं भोजन करना।

(४) **तीरियं** (तीरित)—लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहरकर भोजन करना।

(५) **किट्टियं** (कीर्तित)—भोजन प्रारंभ करने से पहले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर उत्कीर्तन-पूर्वक कहना कि मैंने अमुक प्रत्याख्यान अमुक रूप से ग्रहण किया था, वह भली-भांति पूर्ण हो गया है।

(६) **आराहियं** (आराधित)[1]—सब दोषों से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधि के अनुसार प्रत्याख्यान की आराधना करना। □□

---

१. आचार्य जिनदास ने 'आराधित' के स्थान पर 'अनुपालित' कहा है। अनुपालित का अर्थ किया है—तीर्थंकर देव के वचनों का वार-वार स्मरण करते हुए प्रत्याख्यान का पालन करना—'**अनुपालियं नाम अनुस्मृत्य अनुस्मृत्य तीर्थंकरवचनं प्रत्याख्यानं पालियत्वं।**' —आवश्यकचूर्णि

आवश्यक की विधि

जीव-जन्तुरहित निरवद्य स्थान का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके आसन विछावे। फिर उस पर खड़े होकर शासनपति भगवान् महावीर स्वामी को एवं अपने वर्तमान गुरु महाराज को 'तिक्खुत्तो' के पाठ से तीन बार वंदना करके चौवीसस्तव की आज्ञा लेकर चौवीसस्तव करे। चौवीसस्तव में 'इच्छाकारेणं' और 'तस्स उत्तरी' के पाठ कह कर काउस्सग्ग करे। काउस्सग्ग में दो 'लोगस्स' का ध्यान करे। 'नमो अरिहंताणं' कह कर 'काउस्सग्ग' पारे। 'काउस्सग्ग' में मन, वचन, काया चलित हुए हों तो, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ध्याया हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' बोल कर एक 'लोगस्स' प्रकट रूप में बोले। फिर नीचे बैठकर बायाँ घुटना खड़ा रखकर 'नमोत्थुणं' का पाठ दो बार बोले। फिर प्रतिक्रमण करने की आज्ञा ले। 'इच्छामि णं भंते' एक नवकार कह कर पहले आवश्यक की आज्ञा ले।

पहले आवश्यक में करेमि भंते, इच्छामि ठामि तथा तस्स उत्तरी की पाटी बोलकर काउस्सग्ग करे। काउस्सग्ग में आगमे तिविहे, दंसण-समकित, अतिचार की पाटियां (पांच समिति, तीन गुप्ति, छः काय, पांच महाव्रत, छठा रात्रिभोजन-त्याग व्रत) छोटी संलेखणा, अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि और एक नवकार मंत्र का मन में चिन्तन करे। सब पाटियों में "मच्छमि दुक्कडं" के बदले 'तस्स आलोऊं' कहे, 'नमो अरिहंताणं' कहकर काउस्सग्ग पारे। चार ध्यान का पाठ बोल कर पहला आवश्यक समाप्त करे। फिर दूसरे आवश्यक की आज्ञा ले।

दूसरे आवश्यक में एक लोगस्स प्रकट कहे। फिर तीसरे आवश्यक की आज्ञा ले।

तीसरे आवश्यक में 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ दो बार बोले। जहाँ 'निसीहियाए' शब्द आवे वहाँ दोनों घुटनों को खड़े कर के दोनों हाथ जोड़ कर बैठे और जब 'तित्तीसन्नयराए' शब्द आवे तब खड़े होकर पाठ समाप्त करे। इसी तरह दूसरी बार 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ बोले। फिर चौथे आवश्यक की आज्ञा लेवे।

चौथे आवश्यक में खड़े होकर आगमे तिविहे, दंसण समकित, अतिचार की पाटियां, छोटी संलेखना, अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि—जिनका काउस्सग्ग में चिंतन किया था, उन्हें यहाँ प्रकट कहे। सभी पाटियों में 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहे। फिर 'तस्स सव्वस्स' का पाठ कहे। फिर 'श्रमणसूत्र' की आज्ञा लेकर दाहिना घुटना खड़ा करके बैठे, तदनन्तर एक नवकार, करेमि भंते, चत्तारि मंगलं, इच्छामि ठामि, इच्छाकारेणं, आगमे तिविहे, दंसण समकित, कहे। बाद में निद्रादोष-निवृत्ति (पगामसिज्जाए) का, भिक्षादोषनिवृत्ति (गोयरग्गचरियाए) का, स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन (चउकालसिज्जाए) का और तेतीस बोल का पाठ कहे। पश्चात् दोनों घुटने खड़े कर, दोनों हाथ जोड़ कर, सिर झुकाकर निर्ग्रंथप्रवचन (नमो चउवीसाए) का पाठ कहे। जहाँ 'अब्भुट्ठिओमि' शब्द हो वहाँ खड़ा होकर सर्व पाठ कहना चाहिए। फिर पालथी लगाकर बैठे और बड़ी संलेखना,

अठारह पापस्थान कहे, फिर खड़े होकर 'तस्स धम्मस्स' का पाठ कह कर पूर्ववत् दो वार 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ कहे। फिर दोनों घुटने नमा कर, घुटनों के ऊपर दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक को नीचा नमा कर, एक नवकार मन्त्र कह कर, पांच पदों की वंदना कहे। फिर नीचे वैठ कर अनन्त चौवीस, आयरिउ वज्झाए ढ़ाई द्वीप, चौरासी लाख जीवयोनि, कुल कोडी का पाठ, खामेमि सव्वे जीवा, अठारह पापस्थानक कहे। फिर पांचवें आवश्यक की आज्ञा ले।

पांचवें आवश्यक में प्रायश्चित्त का पाठ, एक नवकार, करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी की पाटी बोल कर काउस्सग्ग में लोगस्स का ध्यान करे (देवसिय-राइसिय प्रतिक्रमण में चार, पक्खी प्रतिक्रमण में आठ, चौमासी प्रतिक्रमण में वारह और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में वीस लोगस्स का काउस्सग्ग करना चाहिये)। 'नमो अरिहंताणं' कह कर काउस्सग्ग पारे। फिर एक लोगस्स प्रकट कह कर दो वार 'इच्छामि खमासमणो' बोले। फिर छठे आवश्यक की आज्ञा ले।

छठे आवश्यक में खड़े होकर साधुजी महाराज से अपनी शक्ति अनुसार पच्चक्खाण ग्रहण करे। यदि साधुजी महाराज न हों, तो ज्येष्ठ श्रावक से पच्चक्खाण ग्रहण करे। यदि वे भी नहीं हों, तो स्वयमेव दश प्रत्याख्यानों में से यथाशक्ति स्वीकार करे। फिर दो नमोत्थुणं का पाठ पढ़ कर उत्तर तथा पूर्व दिशा में मुख कर सीमन्धर स्वामी, महावीर स्वामी तथा मुनिराजों को वन्दना करे। वाद में सभी को अन्तःकरण से खमावे तथा चौवीसी आदि स्तवन वोले।

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिसका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उद्‌घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी, मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से वे वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी महता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगा-टोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनादगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९ श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगा-टोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोल

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहार
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चैनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़ता सिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी वोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६० श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी वोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी वुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरुंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी
९५. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगांव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैंरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, बम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बेंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७ श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बेंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़